सांप्रदायिक समस्या

अनुवाद: दिवाकर

कानपुर दंगा जांच समिति की रिपोर्ट

सांप्रदायिक समस्या

लोकोपयोगी सामाजिक विज्ञान

सांप्रदायिक समस्या

मार्च 1931 के कानपुर दंगों की जांच के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (कराची अधिवेशन 1931) द्वारा नियुक्त समिति की रिपोर्ट

अनुवाद

दिवाकर

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

सर्वप्रथम सन् 1933 में सुंदरलाल, सचिव, कानपुर दंगा जांच समिति द्वारा प्रकाशित

ISBN 81-237-4703-9

पहला संस्करण : 2006 *(शक 1928)*
© नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
रु. **60.00**

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

प्रस्तावना नौ

टिप्पणी तेरह

भूमिका पंद्रह

1. शुरुआती संपर्क 1
2. सामाजिक समस्याएं 19
3. राजनीतिक समस्या 32
4. राष्ट्रीय सम्मेलन 53
5. आकार लेती योजना 77
6. इसका आनंद 98
7. उपचार विधियां 123

अध्यक्ष का पत्र 141

पूरक टिप्पणियां 144

परिशिष्ट 173

यह रिपोर्ट अक्टूबर, 1931 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष को समर्पित की गई। इस पर विचार के बाद 31 दिसंबर, 1931 को हुई अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की कार्यसमिति की बैठक में इसे प्रकाशित करने का निर्णय किया गया। कुछ ही दिनों के अंदर कार्यसमिति के अधिकांश सदस्यों और जांच समिति के छह में से चार सदस्यों को जेल में डाल दिया गया। इन तथ्यों और बाद में होने वाली घटनाओं के कारण इसके प्रकाशन में असाधारण देर हुई। लेकिन भले ही काफी देर हुई है, अखिल भारतीय कार्यसमिति के प्रस्ताव को पूरा करने और चूंकि यह स्थायी हित और मूल्य, मसलन ऐतिहासिक कारणों तथा व्यावहारिक समाधानों, से संबंधित है इसलिए इसका प्रकाशन आवश्यक है।

अप्रैल, 1933

सुंदरलाल,
सचिव,
कानपुर दंगा जांच समिति

समिति के सदस्य

भगवान दास, अध्यक्ष
सुंदरलाल, सचिव
पुरुषोत्तम दास टंडन
मंजर अली सोख्ता
अब्दुल लतीफ बिजनौरी
जफरूल-मुल्क

प्रस्तावना

कानपुर में 24 मार्च, 1931 को हिंदू-मुस्लिम दंगे भयानक क्रूरता के साथ भड़क उठे और कई दिनों तक होते रहे। प्रसिद्ध पत्रकार और उ.प्र. प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष गणेश शंकर विद्यार्थी की हत्या कर दी गई जब वह सांप्रदायिक आग को बुझाने और खतरे में पड़े लोगों को बचाने की कोशिश कर रहे थे।

मार्च, 1931 के अंत में अपने कराची सम्मेलन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कानपुर दंगों की जांच करने, सांप्रदायिक तनाव के कारणों की खोज करने और अन्य क्षेत्रों में सांप्रदायिकता तथा सांप्रदायिक शत्रुता के फैलाव को रोकने के लिए जरूरी उपायों पर सलाह देने के लिए छह सदस्यों वाली समिति का गठन किया। समिति ने अक्टूबर, 1931 में कांग्रेस कार्यसमिति के सामने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसने इसे तत्काल प्रकाशित करने का निर्णय किया। रिपोर्ट सन् 1933 में प्रकाशित की गई। छह सदस्यीय समिति ने आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता के जन्म या उत्पत्ति और फैलाव के सबसे बढ़िया उपलब्ध विश्लेषण के साथ-साथ इस पर नियंत्रण और इसे जड़ से उखाड़ने के लिए जरूरी उपायों को प्रस्तुत किया। लेकिन औपनिवेशिक शासन ने इस पर तत्काल प्रतिबंध लगा दिया। तब से यह आसानी से उपलब्ध नहीं रही है। चूंकि सांप्रदायिकता भारतीय जनता और राज्य शासन विधि के लिए अब भी एक प्रमुख खतरा बना हुआ है, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ने इसे संक्षिप्त रूप में सामने लाने का निर्णय किया है। सिवाय उन अंशों के जिनमें दंगे के प्रसंग और घटनाओं के वर्णन, समिति के सदस्यों द्वारा जांच किए गए गवाहों की सूची, दंगे के कारण हुए विनाश की तस्वीरें और वे सार्वजनिक अपीलें जो समिति और इसके सदस्यों ने हिंदी तथा उर्दू में जारी कीं, इसमें रिपोर्ट के सभी हिस्से अब भी रखे गए हैं। भगवान दास द्वारा प्रस्तुत कार्य के ज्ञापन का एक हिस्सा भी टिप्पणी में शामिल किया गया है।

I

हम संक्षिप्त रूप में रिपोर्ट के तीन प्राथमिक या आधारभूत निरीक्षण का उल्लेख कर सकते हैं।

पहला कि सांप्रदायिकता को सबसे ऊपर सांप्रदायिक सोच या दृष्टि, अर्थात् एक विचारधारा के तौर पर देखा जाना चाहिए। दंगों को "अलग-थलग और अस्वाभाविक घटना" के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। वे सांप्रदायिक सोच के विस्तार के परिणाम हैं। रिपोर्ट के अध्यक्ष द्वारा समर्पित ज्ञापन से उद्धृत करें तो : "कानपुर दंगे गहरे बैठे रोग का मात्र सर्वाधिक हिंसक प्रकाशन था जो कम-से-कम कुछ पीढ़ियों से भारत के सर्वसाधारण में पोषित कीड़ों के कारण दस या बारह वर्षों से तेजी से सक्रिय हो रहा है।" एक बार सांप्रदायिक सोच व्याप्त हो जाती है, "दंगा स्वार्थी तत्वों की लगभग इच्छा पर हो सकता है कि ये उन्हें कहां और कब ठीक लग सकते हैं।" तदनुसार, समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि "महज अस्थायी शांति देने वाले कदम किसी काम के नहीं होंगे" और जरूरी है "समस्या के संपूर्ण परीक्षण" और इस तरह के परीक्षण पर आधारित दीर्घकालीन सुधारों को अपनाने की। सांप्रदायिक समस्या की "इसकी संपूर्णता में, कानपुर दंगों को महज रोग के तीव्र लक्षण के तौर पर लेते हुए" जांच करनी पड़ेगी। और तब इस तरह की जांच पर आधारित दीर्घगामी उपचारों को इस 'रोग' के साथ निबटने के लिए अपनाना होगा।

दूसरा, रिपोर्ट ने भारतीय इतिहास के नजरिये से सांप्रदायिकता के जन्म और विकास में प्रमुख भूमिका पर जोर दिया जिसे 19वीं और शुरुआती 20वीं शताब्दी में औपनिवेशिक लेखकों और प्रशासकों ने विकसित तथा प्रचलित किया एवं बाद में हिंदू और मुस्लिम—दोनों सांप्रदायिक तत्वों ने अपनाया। सांप्रदायिकता भारतीय इतिहास के इस 'विकृत विचार' पर आधारित थी, इसमें इसकी जड़ें थीं और इसके जरिये ही यह बढ़ी। इसके अतिरिक्त, रिपोर्ट में कहा गया, भारतीय इतिहास की यह सांप्रदायिक दृष्टि इतनी व्यापक हो गई है कि वैसे कई धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादियों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। अतः, सांप्रदायिकता के खिलाफ संघर्ष में पहले और सबसे महत्वपूर्ण कदम के तौर पर भारतीय इतिहास के, खास तौर पर स्कूलों में पढ़ाए जाने वाले इस गलत सांप्रदायिक विचार पर सवार सांप्रदायिक मानसिकता को दूर करना जरूरी है। यह भी एक कारण है कि रिपोर्ट का मुख्य हिस्सा भारतीय इतिहास के मध्यकालीन और औपनिवेशिक कालों के अध्ययन को समर्पित किया गया था।

रिपोर्ट के लेखकों ने यह भी तर्क दिया कि सांप्रदायिकता "युगों पुरानी" समस्या नहीं जिसे 19वीं शताब्दी के भारतीयों ने उसे अपने पूर्वजों से ग्रहण किया।

यह हाल का घटनाक्रम था जो हाल में, आधुनिक काल के दौरान जन्मा था। यह पूर्व औपनिवेशिक भारत में नहीं पाया जाता था।

तीसरा, रिपोर्ट के लेखकों ने पाया कि सांप्रदायिकता के जन्म और विकास के लिए धार्मिक अंतर जिम्मेवार नहीं थे, हालांकि ब्रिटिश तथा सांप्रदायिकों ने इन अंतरों का सांप्रदायिक विचार को प्रचलित करने के लिए उपयोग किया। जैसा कि वे लोग बताते हैं, "निश्चित तौर पर उनके धर्मों में ऐसा कुछ नहीं है जो हिंदुओं और मुसलमानों को अच्छे पड़ोसियों तथा सह नागरिकों के तौर पर शांति से रहने में असंभव बनाते हैं।" वे "राजाओं और सेनापतियों की भिड़ंत" के बावजूद मध्य काल में "एक आम संस्कृति" के जन्म की बात भी करते हैं।

II

रिपोर्ट का एक बहुत मूल्यवान हिस्सा उपचारों का अध्याय है। यह तर्क देते हुए कि राष्ट्रीय एकता विभिन्न धार्मिक समुदायों द्वारा एक-दूसरे की 'सहिष्णुता' पर आधारित नहीं हो सकती, रिपोर्ट के लेखक जीवन और संस्कृति के विभिन्न पक्षों को बताते हैं जो देश की जनता को जोड़ते हैं और तर्क देते हैं कि सभी उपचारों का लक्ष्य आम संस्कृति और शिक्षा, आम सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास तथा 'एक साथ रहने' की भावना रखना होगा। तब वे 'उपचारों' या कदमों की शृंखला—धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और प्रशासकीय की सलाह देते हैं—जिनमें से अधिकांश आज बड़े और तात्कालिक महत्व के हैं।

III

रिपोर्ट के अंत में तीन व्यक्तिगत टिप्पणियां दी गई हैं जहां समिति के विभिन्न सदस्यों ने उस रिपोर्ट के साथ अपनी आधारभूत सहमति जताई है जिस पर उन्होंने हस्ताक्षर किए थे लेकिन सुझाए गए कुछ उपचारों पर अपनी असहमति व्यक्त की है।

विपिन चंद्रा
अध्यक्ष
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

टिप्पणी

कानपुर में हमारी जांच-पड़ताल ने हमें इस दुर्घटना की भयानक प्रकृति और इसके विस्तार तथा भारत के अन्य हिस्सों में इसके फैलने की डरावनी आशंका से हमें परिचित कराया। कानपुर दंगे कोई अलग-थलग और अस्वाभाविक घटना नहीं थे। सिर्फ छह हफ्ते पहले हुए बनारस दंगे पूरी जांच के लिए अपेक्षित गंभीरता लिए थे। उसे सिर्फ इस बड़ी दुर्घटना ने पृष्ठभूमि में डाल दिया था। अन्य असाधारण घटनाएं विभिन्न स्थानों में ब्रिटिश राज और भारतीय भारत-काल से हो रही हैं। चीजें इस हद तक शोचनीय हो गई हैं कि स्वार्थी गुटों की लगभग इच्छा पर दंगे कराए जा सकते हैं—जब और उन्हें यह फायदा पहुंचाने वाला हो।

कानपुर दंगे एक गहरे जड़ जमा चुके रोग का सिर्फ हिंसक प्रकटीकरण था जो कुछेक पीढ़ियों से भारत की वास्तविक नीति में पोषित किए जा रहे कीड़ों के कारण पिछले दस या बारह वर्षों में तेजी से बढ़ता रहा है। जिन स्थितियों को हमने देखा और जो साक्ष्य हमने रिकार्ड किए, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि महज अस्थायी शमन करने वाले उपाय निरर्थक होंगे और सिर्फ हिंसक प्रतिघात वाले क्षेत्रों में प्रयास सीमित कर कांग्रेस अपनी ऊर्जा बर्बाद ही करेगी। समस्या की संपूर्ण जांच अपेक्षित थी और उपचार के उपायों पर चिंतन करना होगा जो आम रूप से और दीर्घ उपयोग वाला हो। हमने इस दिशा में जैसे-जैसे सोचा और इस प्रश्न पर विचार किया, हमारी मान्यता दृढ़ होती गई कि इस मुद्दे में समग्रता से जाएं और हिंदू-मुस्लिम समस्या पर उसकी संपूर्णता के साथ विचार करें तथा कानपुर दंगों को रोग के महज उत्तेजित लक्षण की तरह देखें।

एक बार इस स्थिति से प्रतिबद्ध होने के बाद हमारा दायित्व बढ़ ही गया; हमारे व्यक्तिगत अनुभव और हमारी जांच-पड़ताल के दौरान हमने जो साक्ष्य जमा किए, उससे हमारे सामने रहस्य उद्घाटित हुआ कि हिंदू-मुस्लिम समस्या एक युगों पुरानी समस्या है, कि दोनों समुदाय एक-दूसरे के प्रति प्रकृति से विरोधी हैं, कि वे एक-दूसरे का खून बहाते रहे हैं और तब तक ऐसा करते रहेंगे जब तक एक या दूसरा नष्ट न हो जाए या दूसरे पर शासन करने की स्थिति में न हो जाए। हमने पाया कि यह दृढ़ विश्वास लोगों के दिमाग में गहरे पैठ गया

है और इस प्रकृति की तलाश में आगे बढ़ने पर हमने पाया कि इसकी जड़ें इतिहास की दूषित दृष्टि में हैं। यहां तक कि हमारे कुछेक सर्वोत्तम कांग्रेस कार्यकर्ता–हिंदू और मुसलमान, दोनों ही–भी इस तरह का विचार धारण करते हैं जिन्हें उनके दिमाग से नहीं निकाला जा सकता क्योंकि वे इस बात पर यकीन करते हैं कि हमारे इतिहास की पिछली कई शताब्दियों से यह पाठ हमें पढ़ाया गया है। यह खतरनाक मानसिकता है जो विरोध की शांति के सभी प्रयासों को जीवनहीन और अवास्तविक कर देता है और निराशा की भावना तथा स्थिति के परिणामों के प्रति कठोर भाव पैदा करता है जो उन्हें अपच लगता है। हमने महसूस किया कि हिंदू-मुस्लिम समस्या के समाधान की तरफ पहला कदम कार्यकर्ताओं के साथ-साथ जनता की इस मानसिकता को दूर करने का प्रयत्न है। ऐसा सिर्फ दोनों समुदायों के पिछले संबंधों के उनके सामने सही और रचनात्मक विचार प्रस्तुत कर और उन प्रक्रियाओं का पर्दाफाश कर किया जा सकता है जिनके जरिये हमारा इतिहास जान-बूझकर गलत तरीके से और गलत रूप से प्रस्तुत किया गया है। यह काम उतना ही कठिन था जितना जरूरी। इसके लिए समय की जरूरत थी; लेकिन इस तरह के महत्वपूर्ण परिणाम की दृष्टि से हम समय को लेकर दोष नहीं दे सकते थे। इसलिए हम मुस्लिम और ब्रिटिश कालों को समेटने वाला ऐतिहासिक सिंहावलोकन प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका मकसद उन सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के विकास को प्रस्तुत करना है जो वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। उसके बाद कानपुर की घटनाएं इतिहास खंड में काम करने वाली वर्णित शक्तियों के प्रत्यक्ष प्रदर्शन करते देखने वाली हैं और अंतिम खंड उपचार के उपायों के बारे में है।

भगवान दास

भूमिका

इस वक्त सोच है कि इस रूप में हिंदू-मुस्लिम समस्या वर्षों पुरानी है और अपने अलग-अलग धर्मों और संस्कृतियों के कारण दोनों समुदायों में कभी समाप्त न होने वाला और जड़ से न हटाए जाने योग्य वैर का स्रोत है जिसने शुरुआत से ही उनके आपसी संबंधों को कड़वा, अविश्वसनीय और विपरीत बना दिया है। यह एक बहुत ही गलत धारणा है जिसे स्वार्थी हितों ने भारत में इस्लाम के विस्तार के बारे में, मुस्लिम शासन की प्रकृति और घटनाओं के बारे में और आमतौर पर उन संबंधों के बारे में, जो इस अवधि में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच रहे, जान-बूझकर गलत तरीके से फैला दिया है।

इस सिंहावलोकन में हमारा उद्देश्य इस विचार को दुरुस्त करना है जिससे स्कूली इतिहास और अन्य संबंधित कार्यों में आमतौर पर साबका पड़ता है और जो इस वक्त दोनों समुदायों में एक-दूसरे को पराया समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। हमें लगता है कि जब तक लोग इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में देखना आरंभ नहीं करेंगे, आपसी विश्वास बहाल करना और वर्तमान मतभेदों के स्थायी समाधान तक पहुंचना बहुत मुश्किल और तकरीबन नामुमकिन होगा। इसलिए हम सोचते हैं कि हिंदू-मुस्लिम समस्या के समाधान में ऐतिहासिक विभ्रम को दूर करने का प्रयास पहला और सबसे जरूरी कदम है।

सांप्रदायिक समस्या का जन्म

यह समस्या भारत में दो समुदायों के आपसी अविश्वास और अधिकारों तथा हितों के वास्तविक या काल्पनिक संघर्ष के कारण जन्मी है। यह अपनी प्रकृति से ही बताती है कि हर समुदाय की अलग सामूहिक चेतना और साथ में अलग सामूहिक सांप्रदायिक प्रवृत्तियों की उपस्थिति होती है जो एक इकाई के रूप में एक-दूसरे के खिलाफ क्रिया और प्रतिक्रिया कर सकती हैं। इसलिए वर्तमान रूप में हिंदू-मुस्लिम समस्या तब ही खड़ी हो सकती है जब दोनों समुदायों में से प्रत्येक ने अपनी अलग सामूहिक चेतना और इस तरह की प्रवृत्तियों तथा

लक्ष्य का विकास कर लिया हो। विकास का यह चरण भारतीय इतिहास में सिर्फ 1857 के बाद पहुंचा है। पूरे मुस्लिम काल में न तो मुसलमानों और न हिंदुओं में कोई अखिल भारतीय सांप्रदायिक चेतना तथा इससे संबंधित प्रवृत्ति एवं लक्ष्य स्पष्ट तौर पर दृष्टिगोचर होते हैं और दोनों समुदायों के राजनीतिक तथा आर्थिक संबंध सांप्रदायिक पूर्वाग्रह या धर्मांधता से लगभग मुक्त मिलते हैं। भारत में सांप्रदायिकता भारतीय राष्ट्रीयता की सहयोगी के तौर पर उभरती है और कुछ नहीं, बस राष्ट्रीयता धार्मिक स्रोतों से बहाई जाती है। भारत के साथ हिंदुत्व के अधिक प्राचीन संबंध और इस देश के हिंदुत्व के साथ बंधे रहने के कारण हिंदुओं में इसने उनकी क्षेत्रीय भावना के साथ गठबंधन कर लिया है। मुसलमानों में यह बांटने वाली ब्रिटिश नीति के कार्यों, इस्लाम के विदेशी मूल के होने और अन्य देशों में मुसलमानों की उपस्थिति, जहां इस्लाम का शासन है, के सर्वइस्लामीकरण के कारण चली गई है। लेकिन दोनों समुदायों में इस सबका विकास ब्रिटिश शासन द्वारा पुराने सामाजिक संतुलनों तथा आदर्शों को बिगाड़ने और भारतीय जीवन में पश्चिमी विचारों एवं शिक्षा के फैलाव के जरिये भारतीय राष्ट्रीय आदर्श के स्थान पर स्वाभाविक रूप से हुआ है।

ऐतिहासिक सिंहावलोकन की गुंजाइश

इस तरह की रिपोर्ट में अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करना असंभव है; और जिन्हें हमने छुआ भी है, उन्हें भी शीघ्रता से लिया माना जाएगा। संपूर्ण इतिहास लिखना न तो हमारा उद्देश्य है, न यह हमारे लिए संभव है। हमारी इच्छा विचारों की कुछ दिशाओं की ओर महज संकेत करना और भारतीय इतिहास की कुछ विशिष्टताओं तथा घटनाओं का वर्णन करना है जिन्हें आमतौर पर अनदेखा कर दिया गया है लेकिन जिसे ध्यान में रखकर हम दोनों समुदायों के वर्तमान और पिछले संबंधों को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं।

हमने सिंहावलोकन को दो बड़े हिस्सों—मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल में विभक्त किया है। पहले हिस्से में हमने शुरुआती संपर्कों से मुगल काल तक दोनों समुदायों के बीच संबंधों पर विहंगम दृष्टि डाली है जो उनके बीच रहे रिश्तों और उनके जीवन को चलाने वाली विस्तृत मित्रता का संकेत करती है। दूसरे में, हमने दिखाने की कोशिश की है कि किस तरह इस मेल में बाधा डाली गई है और उन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक कारकों की ओर संकेत किया है जो सांप्रदायिक समस्या के जन्म के लिए मुख्यतया उत्तरदायी रहे हैं और जिसका कुछ हिस्सा ब्रिटिश नीति ने बनाने और वर्तमान संकट तक पहुंचाने में मदद पहुंचाई है।

1

शुरुआती संपर्क

इस्लाम के जन्म से पहले भारत और अरब के बीच रिश्ते

इस्लाम के जन्म से पहले अरब और भारत व्यापार तथा वाणिज्य के जरिये काफी निकट से जुड़े हुए थे। उन दिनों अरब के लोग भारत के अच्छे व्यापारी माल भारतीय समुद्र तटों के आर-पार समृद्ध और उर्वर शांत द्वीपों से गुजरते हुए पश्चिम में यूरोप के देशों और मिस्र तथा पूर्व के देशों में जापान और चीन के दूरस्थ देशों तक ले जाते थे। इस दृष्टि से भारत के पश्चिमी और पूर्वी समुद्र तट अरब उपनिवेश थे और इस्लाम के जन्म से सदियों पहले अरब तथा भारत के लोग एक-दूसरे को जानते थे एवं सच्ची मित्रता और सच्चाई के साथ रहते तथा काम करते थे।

अनंत काल से मध्य एशिया से आने वाली जातियों के उत्तर से आने के कारण भारत के जनजीवन में विश्वबंधुत्व सिद्धांत का तत्व घुल रहा था। ये समय-समय पर यहां आए और बस गए, कभी शांति से और कभी इन्होंने चढ़ाई और धावा कर दिया। इतिहास के आरंभ से ही यह विश्वबंधुत्व दुनिया के अन्य सभ्य देशों के साथ उसके आर्थिक रिश्तों के जरिये बढ़ा क्योंकि इस पूरे समय और 19वीं शताब्दी तक जब ब्रिटिश शासन यहां जम गया, वह विश्व व्यापार के सबसे धनी और बड़े केंद्रों में एक था। इन तत्वों ने उसके आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन को एक खुलापन दिया जो उसकी धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था की कठोर विशिष्टताओं से बिल्कुल ही विपरीत था। किसी अन्य देश ने उस तरीके से दूसरे मतों और धर्मों के अनुयायियों का बिना रोक-टोक आतिथ्य और स्वागत नहीं किया जिस तरह भारत ने पुराने समय में किया। और कोई अन्य देश इस तरह के विदेशी संपर्कों से फायदा नहीं उठा पाया तथा अपनी संस्कृति की जड़ों को छोड़े या अपनी विशिष्टता मिटाए बिना अन्य व्यवस्थाओं की अच्छी बातों को सफलतापूर्वक अपनाने में सक्षम नहीं हुआ। हम इन पहलुओं का इसलिए उल्लेख कर रहे हैं क्योंकि ये आमतौर पर इतिहास से अनुपस्थित हैं और अपने भूतकाल को सच्चे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए इसकी

जानकारी जरूरी है।

पहले मुस्लिम उपनिवेश

जब लगभग 630 ई. तक लगभग संपूर्ण अरब ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया तो भारत के अरब उपनिवेश स्वाभाविक तौर पर मुस्लिम उपनिवेश बन गए और 'इस्लाम ने अरबों को जीवन दिया' वाले अत्यधिक नैतिक तथा आर्थिक प्रोत्साहन ने इन उपनिवेशों की संख्या और महत्व को बढ़ाने की भारत में तात्कालिक प्रतिक्रिया हुई। 630 ई. से 1000 ई. तक, जब सिंध में एकमात्र अरब आक्रमण के अपवाद, जिसे भारत में मुस्लिम चढ़ाई की शुरुआत कही जा सकती है, भारत इस्लाम के साथ निकट संपर्क के साथ रहा। इस अवधि के दौरान इस्लाम वस्तुतः दुनिया के उन सभी हिस्सों में फैला जहां यह अभी है; इसने दुनिया के विभिन्न देशों में अपनी सांस्कृतिक और बौद्धिक छाप छोड़ी और अपनी शक्ति तथा गौरव की पराकाष्ठा पाई। भारत के साथ इसके वास्तविक राजनीतिक संपर्क की शुरुआत तब हुई जब इसकी सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक गति का पहला बहाव क्षीण हो गया था। सिंध पर आक्रमण के अपवाद, जिसे भारतीय इतिहास में तुलनात्मक रूप से अकेली घटना कहा जा सकता है, को छोड़कर 1000 ई. तक भारत कभी भी किसी मुस्लिम शक्ति की प्रधानता में नहीं रहा या इसने किसी मुस्लिम चढ़ाई का झटका नहीं झेला। लेकिन इस पूरी अवधि के दौरान इस्लाम व्यावहारिक तौर पर इसके सभी प्रदेशों में फैला और इसने काफी प्रगति की। खासतौर पर दक्षिण भारत, महानदी और नर्मदा नदियों के निचले क्षेत्रों में जो 13वीं शताब्दी के अंत तक मुस्लिम चढ़ाई और धावे से मुक्त रहा, इस्लाम ने शुरुआती प्रभाव दिखाया और शांतिपूर्वक बढ़ा और दोनों धर्मों के अनुयायी पूर्ण सौहार्द्र के साथ रहते रहे। उनके संबंध सिर्फ व्यापार तक सीमित नहीं रहे। इस पूरी अवधि के दौरान हम उन्हें राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में सहयोगी के रूप में और साथ-साथ काम करते पाते हैं। इन क्षेत्रों और भारत के अन्य हिस्सों में इस्लाम को मिलने वाले स्वागत और भारत में रहने वाले मुस्लिम तथा अन्य समुदायों के बीच संबंधों पर हम एक विहंगम दृष्टि डालते हैं।

"पहला मुस्लिम दल भारतीय जल में 636 ई. में आया। इस बीच समुद्र के जरिये वाणिज्य जारी रहा और मुसलमानों ने दक्षिण भारतीय समुद्र तट के किनारे के शहरों और सीलोन में अपने निवास बनाए। रोलैंडसन कहते हैं कि मुस्लिम अरब सातवीं शताब्दी के लगभग अंत में मालाबार तट पर पहली बार बसे।...

"आठवीं शताब्दी में अरब से आए काफिले ने भड़च... काठियावाड़ तट के बंदरगाहों पर आक्रमण किया। उनका व्यापार और बसना जारी रहा।...

"इसके बाद मुस्लिम प्रभाव तेजी से बढ़ा। एक सौ साल से भी अधिक समय तक मुसलमान मालाबार तट पर बसते रहे। उनका व्यापारियों के तौर पर स्वागत किया गया और साफ तौर पर उन्हें बसने और जमीन लेने तथा खुलकर अपने धर्म का पालन करने की सुविधाएं दी गईं। बस जाने के तुरंत बाद वे धर्म प्रचार में अवश्य ही लग गए होंगे क्योंकि इस्लाम मूलभूत रूप से प्रचार वाला धर्म है और हर मुसलमान अपने पंथ का प्रचार करने वाला माना जाता है। कई ने निस्संदेह सम्मान प्राप्त किया; वे उस तरह भारत नहीं आए जैसे अपने इलाकों से भगाए और पीड़ित सीरियाओं के ईसाई उपनिवेश थे बल्कि वे नए धर्म की उत्सुकता से भरपूर तथा विजय एवं गौरव की प्रतिष्ठा से भरे हुए थे। नौवीं शताब्दी से बहुत पहले वे भारत के पूरे पश्चिमी तट पर फैल गए और अपने विशिष्ट विश्वास और प्रार्थना के तरीकों तथा अपने तौर-तरीकों की जिजीविषा के जरिये उन लोगों ने आम हिंदुओं बीच आलोड़न पैदा कर दिया। उस वक्त दक्षिण भारत धर्म के संघर्ष के कारण खासा आंदोलित हुआ क्योंकि नव-हिंदुत्व अपने वर्चस्व के लिए बौद्ध और जैन धर्मों से जूझ रहा था। राजनीतिक तौर पर भी यह अस्त-व्यस्तता का दौर था। चेरा वंश सत्ता खो रहा था और नए वंश सत्ताधारी के रूप में उभर रहे थे। स्वाभाविक तौर पर लोगों के दिमाग विचलित थे और वे किसी भी ओर से आने वाले नए विचार के ग्रहण करने के लिए तैयार थे। इस्लाम विश्वास के साधारण फार्मूले, बिल्कुल स्पष्ट धर्म मतों और रीतियों तथा सामाजिक संगठन के लोकतांत्रिक सिद्धांतों के साथ सामने आया। इसने अत्यधिक प्रभाव उत्पन्न किया और नौवीं शताब्दी के पहले 25 साल समाप्त होने से पहले ही कोदुनगल्लूर पर शासन करने वाले मालाबार के अंतिम चेरामन पेरूमल राजा ने नए धर्म में परिवर्तन कर लिया।

"इस अवधि में मुसलमानों ने प्रत्यक्ष तौर पर काफी महत्व हासिल कर लिया था। उन्हें मप्पिला नाम से अलंकृत किया जाने लगा था जिसका अर्थ या तो "महान बेटा" या "वर" होता है और यह सम्मान माना जाता था। इससे कुछ ईसाइयों को भी अलंकृत किया जाता था और दोनों समुदायों की अलग-अलग पहचान के लिए ईसाइयों को नुस्सारानी मप्पिला कहा जाता था। अन्य विशिष्ट अधिकार भी उन्हें दिए गए थे। एक मुसलमान नंबूदिरी ब्राह्मण के बगल में बैठ सकता था जबकि नैयर ऐसा नहीं कर सकता था। मप्पिलाओं के धार्मिक नेता थांगल को जमोरीन के बगल में पालकी में सवार होने की अनुमति थी।

"जमोरीन के संरक्षण और प्रोत्साहन में अरब व्यापारी अपने उपनिवेशों में बड़ी संख्या में बसे और अपने व्यापार के जरिये न सिर्फ भौतिक रूप से अपनी शक्ति तथा धन में बढ़ोतरी की बल्कि प्रत्यक्ष तौर पर अभ्युदय के अपने अभियानों में उनका साथ दिया। मूल रूप से इर्नाड में नेदियिरप्पा से आने वाले जमोरिनों

ने पलनाड और पोर्लाट्टिरि राजा के पड़ोसी क्षेत्र पर आक्रमण किया तथा वेलापुरम में एक महल तलवार की नोंक पर जीतकर जमीन पर कब्जा कर लिया। यहां एक जनश्रुति के अनुसार, अरब के लोगों के साथ व्यापार करने वाला एक व्यवसायी आकर बस गया और उसने बाजार बनाया जो कालीकट का सफल बंदरगाह बन गया। वह कालीकट का कोया (काजी) बन गया और उसके वंशजों ने पड़ोसी नादों के राजाओं के खिलाफ जमोरीन की तरफ से युद्ध किया। वलावनाद के राजा वल्लुवाकोना हार गए और तिरूनावाचि में मनमखम उत्सव का प्रबंधन और इसके साथ ही दक्षिणी मालाबार का आधिपत्य जमोरीन के हाथों में आ गया। अली राजाओं (सागर के स्वामी) के मुस्लिम परिवार, जो कोलातिरि राजाओं के एडमिरल और मंत्री थे, एक जनश्रुति के मुताबिक, अरब मुसलमानों के वंशज थे जिन्हें चेरामन पेरूमल ने उनकी पैतृक भूमि से आमंत्रित किया था और उन्हें कन्नौर (कन्नूर) के प्रमुख के पद दिए गए थे; एक अन्य जनश्रुति के मुताबिक, परिवार का पहला मुखिया एक नायर था जो कोलातिरि का मंत्री था और जिसने इस्लाम अपना लिया था लेकिन अपनी कुशलता और क्षमता के कारण उसने अपना पद बना रखा था।

"जमोरीन मुसलमानों के बारे में इतना ऊंचा सोचते थे कि उन अरब जहाजों को चलाने के लिए उन्होंने धर्म परिवर्तन को निश्चित ही प्रोत्साहित किया जिन पर अपनी उन्नति के लिए वह आश्रित थे; उन्होंने आदेश दिया कि उनके प्रभुत्व वाले मछुआरों (मुक्कुवानों) के हर परिवार के एक या अधिक पुरुष सदस्य मोहम्मडन के तौर पर पाले-पोसे जाएं।...

"ये लोककथाएं निश्चय ही बताती हैं कि भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर मुस्लिम पहले ही बस गए और उनकी संख्या, धन और शक्ति बढ़ी।...

"पूर्वी तट पर उनका प्रमुख स्थान ताम्रपर्णी नदी के मुहाने के पास तिन्नेवेलि जिले में कयालपट्टनम था जहां काल्डवेल ने मिट्टी के बर्तन के टूटे हुए हिस्से और इससे भी महत्वपूर्ण 7वीं शताब्दी (71 हिजरी) से 13वीं शताब्दी वाली तिथियों से अंकित मुस्लिम सिक्के बड़ी संख्या में इकट्ठा किए थे।

"कुछ संख्या में बस जाते ही मुसलमानों ने अपने धार्मिक अभियान आरंभ कर दिए। दक्षिण के कई इस्लामी समुदाय इस अवधि में अपने मूल की पहचान करते हैं; मदुरा और त्रिचिनोपोलि के रवात्तनों का यकीन है कि उन लोगों को धर्म परिवर्तन के लिए नाथड़ वली ने प्रेरित किया जिनका मकबरा अब भी त्रिचिनोपोलि में है और जिस पर उनके निधन की तिथि 417 हिजरी (1039 ई.) अंकित है।

"दुदेकुला अपने परिवर्तन को पेन्नुकोंडा के संत फखरुद्दीन से जोड़ते हैं। वह नाथड़ वली के शिष्य बने, पेन्नुकोंडा के राजा का धर्म परिवर्तन किया और

वहां मस्जिद का निर्माण किया। थर्स्टन के मुताबिक, उनके निधन की तिथि 564 हिजरी है।

"मदुरा में मुसलमानों ने 1050 ई. में मलिक उल मुलुक के नेतृत्व में प्रवेश किया जिनके साथ महान संत हजरत अलियार शाह साहिब थे जिन्हें मदुरा में हुजूर कचहरी के पास सुपुर्द-ए-खाक किया गया। ...11वीं या 12वीं शताब्दी में गांवों के रखरखाव के लिए अनुदान की जांच वीरप्पा नायकन के काल में की गई और 1573 ई. में इसकी पुष्टि हुई।...

"कोरोमंडल बंदरगाह मुस्लिम व्यापारियों का माबर (मार्ग) बन गया। वसफ के मुताबिक, यह समुद्र तट से सटे कुलम से निलवार (नेल्लोर) तक था।"[1]

भारत में मुस्लिम राजनीतिक सत्ता की स्थापना से पहले इस्लाम का आगमन

वे स्थितियां जो हम महानदी और नर्मदा के दक्षिण के क्षेत्रों में पाते हैं, व्यावहारिक तौर पर संपूर्ण भारत में थीं। लगभग सभी प्रदेश में इस्लाम का आगमन मुस्लिम राजनीतिक सत्ता की स्थापना से शताब्दियों पहले हो गया था और मुस्लिम आबादी को भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में व्यावहारिक तौर पर भाग लेते पाया जाता है। इनमें से कुछ क्षेत्रों का उल्लेख करें तो ये दैबल, भड़ूच, कैम्बे, सिंधन और चोल; कच्छ और काठियावाड़ में भी था। कुछ महाराष्ट्र में सोपारा और कुछ कन्नौज के शासन में तथा यहां तक कि बनारस में भी रहते थे। गुजरात में सत्ता के साथ उनके संबंध उतने ही मित्रतापूर्ण थे जितने मालाबार में।

"सुलेमान, मसूदी, इब्न हाकल और अबू जैद सभी मित्रतापूर्ण व्यवहार के लिए बल्हारा (गुजरात के वालाभि शासक) की प्रशंसा में एकमत हैं जो उन्होंने मुसलमानों के प्रति प्रदर्शित की। सुलेमान लिखते हैं, 'बल्हारा से अधिक अरबों को पसंद करने वाला कोई शासक नहीं है और उनकी प्रजा उनके उदाहरण का अनुसरण करती है।' मसूदी ने अपने सहधर्मियों को अपने धर्म का अनुपालन करते हर जगह पाया। गुजरात के राजा के विषय में वह कहते हैं, 'उनके शासन में इस्लाम आदरप्राप्त और संरक्षित है, सभी हिस्सों में छोटे और शोभायमान मस्जिद हैं जहां मुसलमान पांचों वक्त नमाज पढ़ते हैं।' अल-इस्तखारी (951 ई.) ने बल्हारा के शासन वाले शहरों में मुसलमानों को पाया और 'कोई अन्य नहीं बल्कि मुसलमान ही बल्हारा के हिस्से पर शासन करते हैं।' "[2]

इस तरह गजनी के महमूद के आक्रमण से पहले मुस्लिम अरबों ने पश्चिमी

---

1. "इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर", ताराचंद, एम.ए., डी. फिल.
2. "इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर", ताराचंद, एम.ए., डी. फिल.

भारत और अन्य प्रदेशों में प्रभाव की स्थिति प्राप्त कर ली थी और वे लोग अपने धर्म को जनता के बीच फैलाने में इसका उपयोग करते थे। इस काम में उन्हें खुद हिंदू शासक प्रोत्साहित करते थे। कैम्बे में एक अवसर पर हिंदुओं ने एक मुस्लिम मस्जिद को क्षतिग्रस्त कर दिया। गुजरात के राजा ने व्यक्तिगत जांच की और शासन के खर्च पर मस्जिद का पुनर्निर्माण कराया। मुस्लिम संत बड़ी संख्या में आए। बाबा रतन दरवेशों के दल के साथ भड़ूच आए। बोहरा समुदाय के प्रमुख यमन से आए और गुजरात में बस गए तथा नूर सातागोर ने गुजरात के कुनबियों, खेरवाओं और कोयरियों का धर्म परिवर्तन किया। सिंध जिसमें उस वक्त मुल्तान शामिल था और पश्चिम में कन्नौज की सीमाएं जिसे छूती थीं, 715 ई. के बाद, जैसा कि हम देखेंगे, मुस्लिम शासन के अंतर्गत था। "उत्तरी भारत में हम पाते हैं कि वाहिंद... जो काबुल के मुस्लिम हाथों में चले जाने के बाद पंजाब की राजधानी बना, में बड़ी संख्या में मुसलमान आदर पाते थे और उनके पास हिंदू राज के साथ अपना शासन था लेकिन तब भी आबादी का अधिकांश हिस्सा हिंदू था।"[3] "पंजाब की सीमाओं से सटे शहर कन्नौज में मुसलमानों ने अपना शासन स्थापित कर लिया था। मुस्लिम अरब कश्मीर में भी थे।"[4] पंजाब प्रदेश में, जो उन दिनों हिंदूकुश तक फैला हुआ था और पश्चिम की तरफ लगभग संपूर्ण क्षेत्र जिसमें शामिल था जो इस वक्त अफगानिस्तान में है, अरब मुस्लिम आबादी व्यवहारतः हर बड़े शहर में थी। "अफगानिस्तान के अन्य महत्वपूर्ण नगरों में मुसलमान निश्चिंत रह रहे थे लेकिन स्वयं अफगानों ने अब तक इस्लाम को स्वीकार नहीं किया था। हालांकि काबुल के एक राजा (उस समय काबुल पंजाब प्रांत की राजधानी थी) ने लगभग तीसरी शताब्दी हिजरी, अर्थात् गजनियों से लगभग एक शताब्दी पहले इस्लाम स्वीकार कर लिया था, फिर भी अधिकांश अफगान जातियों ने महमूद के दिनों में इस्लाम स्वीकार करना आरंभ किया।"[5]

हिंदुओं के साथ रिश्ते

उपर्युक्त हल्के-फुल्के रेखांकन से ही यह स्पष्ट है कि दसवीं शताब्दी से पहले अरब व्यापारी और धार्मिक उपदेशक भारत में केप कोमोरिन से हिंदूकुश तक फैल चुके थे। महमूद के आक्रमणों की श्रृंखला आरंभ करने से पहले वे लोग गहरी मित्रता के साथ दो शताब्दियों से भी अधिक समय से हिंदुओं के साथ रह रहे थे। हर जगह हम राजाओं को उनका पक्ष लेते पाते हैं। व्यापारी समुदाय

3. "अरब और हिंदी के ताल्लुकात", सुलेमान नदवी, पृ. 398
4. वही
5. वही

के तौर पर उन लोगों ने राज्य के आर्थिक विकास में उल्लेखनीय योगदान किया और इसके राजस्व में बढ़ोतरी की। उन लोगों ने राजा के मंत्रियों और सलाहकारों के तौर पर काम किया और अपनी इच्छा के अनुरूप जीवन में किसी भी वृत्ति को चुनने को वे लोग स्वतंत्र थे। वे लोग अपने धर्म का पालन करने और उसे फैलाने को भी आजाद थे और लोगों को धर्म परिवर्तन से रोकने के लिए न तो कोई दंड था, न प्रतिबंध। बाहर से आकर बसने वाले लोगों ने आमतौर पर इस देश की महिलाओं से शादियां कीं और एक मिश्रित आबादी तथा परिवर्तन करने वाले स्थानीय लोगों की आबादी साथ-साथ बढ़ रही थी और दो शताब्दियों के दौरान यह काफी बढ़ गई होगी। बाहरी आक्रमण के समय इन मुसलमानों ने अपने राजाओं की तरफ से और उनके लिए, इस बात का ध्यान दिए बिना, संघर्ष किया कि आक्रमण करने वाला हिंदू है या मुसलमान। कई राजाओं के पास मुस्लिम सेना और सेनापति थे और मुस्लिम शासकों की सेनाओं में हिंदू सेना और सेनापति शामिल थे। खुद गजनी की सेना में महमूद के समय से पहले से हिंदू टुकड़ियां और कई हिंदू सेनापति थे। इन सबके अतिरिक्त कई स्थानों पर, जैसा कि हमने देखा है, मुसलमानों ने अपने लिए छोटे स्वतंत्र शासन की स्थापना कर ली। न तो सिंध और मुल्तान में जो मुस्लिम शासन के अधीन थे और न शेष भारत में जो हिंदू राजाओं के तहत थे, धर्म के आधार पर प्रजा के साथ व्यवहार में कोई अंतर था। लेकिन सिंध में अरब शासन के अंतर्गत टैक्स लागू करने के आधार को लेकर अंतर जरूर था। मुसलमानों ने बारादरी और अन्य करों के लिए आम कर की व्यवस्था की थी जिसे हिंदू राजाओं ने अपने शासन क्षेत्रों में लागू कर रखा था लेकिन करों के भार का दोनों व्यवस्थाओं के बीच बहुत अंतर नहीं था क्योंकि जजिया बहुत हल्का कर था, मुसलमानों से लिए जाने वाले जकात से भी कम।

इस तरह यह स्पष्ट है कि मुस्लिम शासन की स्थापना से पहले भारत में इस्लाम के पैर जम गए थे और मुस्लिम तथा हिंदू व्यवहारतः पूरे देश में साथ-साथ और स्नेहभाव के साथ रह रहे थे। अगर आज हम दोनों व्यवस्थाओं में विरोध और असहनशीलता अंतर्वर्ती रूप से पाते हैं तो यह प्रत्यक्ष तौर पर वह अवधि थी जब उन लोगों को पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर था। इसके विपरीत हम इस देश में इस्लाम को स्वयं हिंदू शासकों की मदद से और उनके संरक्षण में फैलते पाते हैं और इस अभियान के वेग ने विनीत प्रजा से राजाओं तक समाज के हर अंग को समाहित कर लिया था। हिंदू मंदिर और मुस्लिम मस्जिद साथ-साथ बने रहे और दोनों के उपासकों को अपनी-अपनी पूजा करने में कोई कठिनाई नहीं थी। धार्मिक विशिष्टता जीवन के व्यक्तिगत और सामाजिक हिस्सों में सीमित रही और उस धार्मिक असहनशीलता से अपनी प्रकृति एवं अभिव्यक्ति

में बिल्कुल भिन्न थी जो, हम देखेंगे कि, अन्य देशों में पाई जाती थी। आर्थिक तथा राजनीतिक पहलुओं में दोनों समुदायों के बीच किसी तरह का बंधन नजर नहीं आता था क्योंकि इस तरह के बंधन दोनों के धर्म और संस्कृति के लिए अनजाने थे। ऊपर बताई गई सामाजिक स्थितियों का खाका संकेत देता है कि अपनी कट्टर भूमिका में भी इसे छोड़ दिया जाए, तो भी हिंदुत्व अपने सामाजिक संगठन से बाहर के समुदायों को लेकर सामाजिक कटुता के तत्वों को जन्म देने में अक्षम था क्योंकि कुछ शताब्दियों से इसमें यह धर्म परिवर्तन हो रहा था और इस कारण इसने सभी आक्रमण त्याग दिए थे। अगर हम अब इस तरह के तत्वों को पाते हैं तो यह निश्चित तौर पर बाद का विकास और विदेश से आई सोच है।

अब हम तसवीर का दूसरा पक्ष पलटें और देखें कि मुस्लिम अरबों ने तब कैसा व्यवहार किया जब वे भारत के उत्तर-पश्चिम प्रांतों में आक्रमणकारियों के रूप में घुसे।

प्रथम मुस्लिम आक्रमण

जैसा कि हमने देखा है, 636 ई. में उमर के मुख्य मुस्लिम शासन के दौरान पहला मुस्लिम दल भारतीय जल-सीमा में घुसा। तब बहरीन और ओमान के गवर्नर उस्मान सिकिजी ने समुद्र-पार साना के लिए सेना भेजी। लेकिन मुख्य मुस्लिम शासक ने आक्रमण को ठुकरा दिया क्योंकि भारत ऐसी भूमि थी जहां इस्लाम मानने और उसके विस्तार की पूर्ण स्वतंत्रता थी और उन दिनों, इस्लामी कानून और प्रवृत्ति के मुताबिक, किसी विश्वास करने वाले व्यक्ति को किसी उचित कारण के बिना इस तरह के देश पर आक्रमण की अनुमति नहीं थी। उस्मान सिकिजी को इस मौके पर मुख्य मुस्लिम शासक से काफी निंदा सुननी पड़ी थी और उसे चेतावनी दी गई थी कि अगर उसने दोबारा इस तरह का प्रयोग किया तो उसे कड़ा दंड दिया जाएगा। लगभग उसी समय भड़ूच और दैबाल के लिए साहसिक यात्रा की गई लेकिन उमर ने साहसपूर्वक अपना पहला आदेश वापस ले लिया और भारत के साथ सशस्त्र दखलंदाजी लगभग एक शताब्दी तक नहीं हुई। ये सौ साल इस्लाम के इतिहास में महत्व के हैं। इसका विश्व अभियान 622 ई. में आरंभ हुआ होगा और एक शताब्दी या लगभग इतने ही वर्षों के अंदर इसने दुनिया में तूफान ला दिया और इतिहास में अभूतपूर्व क्रांति करने में सफल रहा।

''इस्लाम का उत्थान इतिहास के अचंभों में है। 622 ई. की गर्मी में एक सिद्ध पुरुष जिन्हें अपने घरेलू नगर में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी, याथरिब शहर में शरण लेने के लिए भाग निकले जिसे 'मदीनत-उन-नबी' सिद्ध पुरुष का शहर

नाम से जाना जाता है और जो मक्का से दो सौ मील से भी अधिक दूर है। एक शताब्दी से कुछ समय बाद उस निर्वासित शरणार्थी के वंशज और अनुयायी शासन कर रहे थे जो अटलांटिक से सिंधु और कैस्पियन से नील तक था और जिसमें स्पेन और पुर्तगाल, दक्षिणी फ्रांस के कुछ उर्वरा क्षेत्र, अफ्रीका का पूरा उत्तरी बंदरगाह, मिस्र का ऊपरी और निचला भाग, उसका अपना घरेलू अरब, सीरिया, मैसोपोटामिया, अर्मेनिया, पर्शिया, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और ट्रांसोजिनिया भी शामिल थे।

"आठवीं शताब्दी की शुरुआत तक अरबों ने अपने हाथ भारत के पश्चिमी प्रांत तक बढ़ा लिए थे और प्राचीन गोदरोसिया, मकरान तक बढ़ गए थे—ओमान सागर के उत्तरी छोर के भीतरी भाग वाले अति उष्म इलाके तक। इस इलाके के ठीक पूरब की तरफ सिंध शासन था। जिसका शासक दाहिर, बलपूर्वक सत्ता हथियाने वाले ब्राह्मण का पुत्र था।"[6]

सिंध में मुहम्मद बिन कासिम का शासन

वह 711 ई. था जब पहले मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम ने समुद्र पार किया, दाहिर को पराजित किया और सिंध में पहले मुस्लिम शासन की आधारशिला रखी। हम उसके अभियान या उसके प्रशासन के सभी विवरण प्रस्तुत करना नहीं चाहते। हम सिर्फ चार घटनाओं का उल्लेख करेंगे :

"सिंध पर कब्जे के दौरान जब अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम अलरोर (एलोर) पहुंचा, नागरिकों ने कई महीनों तक आक्रमणकारी का पूरी ताकत से प्रतिरोध किया। तब उन लोगों ने दो शर्तों पर जोर देते हुए शांति की प्रार्थना की : 1. शहर के किसी नागरिक की हत्या नहीं की जाएगी, और 2. उनके पूजास्थलों के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए। इन शर्तों को स्वीकार करते हुए मुहम्मद बिन कासिम ने कहा, 'हिंदुस्तान के मंदिर, ईसाइयों के चर्चों' यहूदियों के पूजा के लिए जमघटों और अरबों के अग्नि-मंदिरों की तरह हैं।' "[7]

और इन हिस्सों में अपने पूरे शासन के दौरान अपने शब्दों पर कायम रहते हुए अरबों ने न तो कभी भी हिंदुओं के मंदिरों को अपवित्र किया, न उनके धार्मिक कार्यों और उत्सवों में दखलंदाजी की।

दूसरी घटना इस तरह है :

"सिंध पर कब्जे के बाद ब्राह्मणों का एक दल मुहम्मद कासिम से मिला। मुहम्मद कासिम ने उन्हें बहुत आदर दिया। ब्राह्मणों ने उससे अनुरोध किया

---

6. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ मेडीएवल इंडिया
7. "अरब और हिंद के ताल्लुकात", सुलेमान नदवी, पृ. 194

कि हिंदू परंपरा और व्यवहार के तहत शासन में उन लोगों को अन्य समुदायों की तुलना में उच्च स्थान दिया जाना चाहिए। इसकी सच्चाई का पता लगाने के बाद मुहम्मद कासिम ने उनकी मांगें मान लीं और उन लोगों को सभी उच्च पदों और कार्यालयों में नियुक्त किया।"[8]

तीसरी घटना इस तरह है :

"अरब अमीर ने घोषणा करवाई कि वे लोग जो इस्लाम में धर्म परिवर्तन की इच्छा रखते हैं, ऐसा कर सकते हैं और हमारे भाई रहेंगे और जो अपने धर्म में बने रहना चाहते हैं, ऐसा कर सकते हैं और उन्हें महसूल अदा करना होगा। इस तरह कुछ लोगों ने इस्लाम स्वीकार किया और कुछ लोग अपने पुराने धर्म में बने रहे।"[9]

चाच-नामा में यह विवरण है :

"वे लोग जो मुसलमान बन गए, महसूल और दासता से मुक्त रहे और जो अपने धर्म में बने रहे, उन्हें तीन वर्गों में बांटा गया : 1. उच्चतम वर्ग, अर्थात् धनी वर्ग, 2. मध्य वर्ग, और 3. निम्न वर्ग। उन्हें क्रमशः 48 दिरहम, 24 दिरहम और 12 दिरहम कर लगता था। वे लोग जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया, इससे मुक्त रखे गए और जो अपने वंशगत धर्म से टिके रहे, महसूल अदा करते थे लेकिन उन्हें उनकी भूसंपत्तियों और संपत्ति से वंचित नहीं किया गया और उन्हें इन्हें रखने की अनुमति दी गई।"

"एक दिरहम का वर्तमान मूल्य साढ़े तीन आने से अधिक नहीं हो सकता। इस तरह जोड़ें तो धनी ने दस रुपये, मध्य वर्ग ने पांच और गरीब ने दो रुपये आठ आने वार्षिक कर की अदायगी की होगी। और स्वाभाविक तौर पर, स्थापित परंपरा के मुताबिक, महिलाओं, बच्चों, वृद्ध लोगों, पुजारियों और अन्य धार्मिक विद्वानों और अन्य अक्षम लोगों को जो पैसे कमा नहीं सकते, मुक्त कर दिया होगा। और मुसलमानों को महसूल की जगह ढाई प्रतिशत जकात का भुगतान करना पड़ता था। मुसलमान अपनी भू-उपज का दसवां हिस्सा और गैर मुसलमान आम भुगतान करते थे। अरबों के शासन में इनके अलावा अन्य कोई कर नहीं था।"[10]

चौथी घटना इस तरह है :

"जब ब्रह्मनाबाद के लोगों ने मुहम्मद बिन कासिम से उन्हें पूजा की स्वतंत्रता देने की प्रार्थना की तो उसने यह मसला हज्जाज को सौंप दिया जिसने निम्न उत्तर भेजा :

---

8. "अरब और हिंद के ताल्लुकात", सुलेमान नदवी, पृ. 194
9. "अरब और हिंद के ताल्लुकात", सुलेमान नदवी
10. वही, पृ. 202

"जैसा कि उन लोगों ने आज्ञानुकूलता दिखाई और खलीफा को करों के भुगतान पर सहमति जताई, उनसे कुछ और प्राप्त करने की जरूरत नहीं हो सकती। वे लोग हमारी सुरक्षा में ले लिए गए हैं और हम लोग किसी भी तरह अपने हाथ उनके जीवन या संपत्ति की ओर नहीं बढ़ा सकते। उन्हें अपने देवताओं की पूजा की अनुमति दी जाती है। किसी को भी अपने धर्म को मानने से अलग या रोका नहीं जाएगा। वे लोग अपने घरों में जिस तरह चाहें, रहें।' "[11]

सिंध के अरब प्रशासन को उसकी धार्मिक सहिष्णुता के लिए इतिहासकारों ने सकारात्मक रूप से लिया है। एक ने तो इसका विवरण "संयम और धार्मिक सहनशीलता के चमकते उदाहरण" के तौर पर दिया है। और हमने देखा है कि अन्य धर्मों के साथ अपने व्यवहार में भारत अरबों से अधिक सहनशील रहा है। यह सिर्फ धार्मिक सहनशीलता ही नहीं, बल्कि जीवन के कई अन्य क्षेत्रों में भी इस अवधि में भारत विकास के उच्चतर स्तर का प्रतिनिधित्व करता था—न सिर्फ अरब बल्कि उन देशों के मामले में भी जो उन लोगों के शासन में पहले ही आ चुके थे। परिणाम के तौर पर, भारत से इस्लाम के शुरुआती संपर्क ने अपने बाद के विकास और इतिहास पर गहन प्रभाव डाला।

अरबों से उच्चतर भारतीय सभ्यता

"यह एकबारगी स्वीकार किया जा सकता है कि राजनीतिक दृष्टिकोण से अरब की सिंध विजय इस्लाम के इतिहास में महत्वहीन घटना थी। लेकिन इस विजय का मुस्लिम संस्कृति पर प्रभाव गहन और दूरगामी था। जब अरब भारत आए, वे उस संस्कृति की उच्चता से विस्मित थे जो उन लोगों ने इस देश में पाई। हिंदू दर्शन के विचारों और हिंदू ज्ञान की प्रचुरता तथा विविधता उनके लिए विस्मित करने वाली खोज थी। मुस्लिम अध्यात्मविद्या, कि सिर्फ एक अल्लाह है, का मत हिंदू संतों और दर्शनशास्त्रियों को पहले से पता था और उन लोगों ने पाया कि मानव की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली कुलीन कलाओं में हिंदू उन लोगों से काफी आगे थे। भारतीय संगीतज्ञों, राजमिस्त्रियों और चित्रकारों का अरबों ने दर्शनशास्त्रियों और विद्वानों की तरह आदर किया। तबारी लिखते हैं कि खलीफा हारून ने दुःसाध्य और पीड़ादायक रोग के उपचार के लिए एक भारतीय वैद्य को उनके पास भेजा। वैद्य ने रोगी को सफलतापूर्वक स्वस्थ कर दिया और उसे सुरक्षा में भारत लौटने की अनुमति दी गई। अरबों ने हिंदुओं से प्रशासन की व्यावहारिक कला सीखी और बड़ी संख्या में ब्राह्मण अधिकारियों की नियुक्ति प्रशासन के काम प्रभावी ढंग से करने में उनके बेहतर ज्ञान, अनुभव और दक्षता के कारण हुई। मुस्लिम इतिहासकार उस ऋण को भुलाने या कम करने में तत्पर

11. "द हिस्ट्री आफ मेडीएवल इंडिया", ईश्वरी प्रसाद, पृ. 52, 53

हैं जिसके लिए अरबी सभ्यता भारतीय-आर्य संस्कृति के प्रति अनुग्रहीत है। बाद में यूरोपीय सभ्यता पर सुंदर प्रभाव डालने वाली अरबी संस्कृति के कई तत्व भारत से उधार लिए गए। उस वक्त भारत बहुत उच्चतर बौद्धिक स्तर पर खड़ा था और अरब विद्वान दर्शन, खगोल विद्या, गणित, औषध, रसायन विज्ञान और ज्ञान के अन्य विषयों को सीखने के लिए बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मण पंडितों के चरणों में बैठे। बगदाद शासन ने भारतीय विद्वानों को अपना संरक्षण दिया और मंसूर की खिलाफत (753-774 ई.) में अरब विद्वान भारत से बगदाद गए जो अपने साथ दो किताबें–ब्रह्मदत्त की "ब्रह्म सिद्धांत" और उसकी "खंड-खड्यका" ले गए। इनका अनुवाद भारतीय विद्वानों की मदद से अल्फाजारी ने अरबी में किया। अरबों ने वैज्ञानिक खगोल विद्या के पहले सिद्धांत उनसे ही सीखे। हारून की खिलाफत (786-808 ई.) के दौरान बरमाक्स के शासक परिवार से हिंदू अध्ययन को काफी प्रश्रय मिला। हालांकि बरमाक्स परिवार ने इस्लाम में धर्म परिवर्तन कर लिया था, उन लोगों ने कभी उत्साहित महसूस नहीं किया और अपने हिंदू झुकाव से प्रेरित होकर उन लोगों ने विद्वानों को औषध, फलित ज्योतिष, औषध सिद्धांत और अन्य विज्ञानों के अध्ययन के लिए भारत भेजा। उन लोगों ने हिंदू विद्वानों को बगदाद आमंत्रित किया और उन लोगों को अपने औषधालयों में मुख्य वैद्य नियुक्त किया और औषधि, दर्शन, विष विद्या, फलित ज्योतिष और अन्य विषयों पर संस्कृत अध्ययनों को अरबी में अनुवाद करने को कहा। लेकिन यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि मुसलमानों ने भारत से लिए गए ज्ञान को जल्द ही धर्मनिरपेक्ष बना दिया और इसे नई साज-सज्जा के साथ में यूरोपीय दुनिया को जल्द ही पेश कर दिया जो यूरोपीय मस्तिष्क के लिए संभवतः अधिक स्वीकार्य था। हालागु के हाथों अब्बासीद राजवंश के खात्मे के बाद जब बगदाद के खिलाफत का महत्व समाप्त हो गया, तो सिंध के अरब शासक व्यावहारिक तौर पर स्वतंत्र हो गए। सांस्कृतिक संबंध टूट गए और भारतीय विद्वानों से संबंध न रखने वाले अरबी विद्वान ग्रीस की कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन की ओर मुड़े। हैवल के इस विचार को मानने का पर्याप्त कारण है कि 'यह भारत था, न कि ग्रीस जिसने इस्लाम को उसके युवावस्था की छाप छोड़ने वाली अवधि में शिक्षा दी, उसके दर्शन और गोपनीय धार्मिक आदर्शों की रचना की और साहित्य, कला और शिल्पकला में इसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति की प्रेरणा दी।[12]

पूर्ववर्ती संयोग के प्रयास

ऊपर का उद्धरण संबंध की उस निकट प्रवृत्ति को बताता है जो शताब्दियों से

12. "द हिस्ट्री आफ मेडीएवल इंडिया", ईश्वरी प्रसाद, पृ. 59-61

इस्लाम और भारत के बीच विद्यमान था—ऐसे समय जब वह मुस्लिम राजनीतिक प्रभुत्व से पूरी तरह मुक्त था और यह उस धार्मिक विचार तथा संस्कृति के गहरे संयोग को उद्‌घाटित करता है जो इस्लाम और हिंदुत्व के बीच इतना जल्द बढ़ना शुरू कर चुका था। अन्य मतों के प्रति उल्लेखनीय सहिष्णुता जो भारत में मौजूद थी और जो अरबों ने इस स्तर तक प्रदर्शित की, इस युग में बहुत ही असामान्य बात थी। अन्य स्थानों पर उस वक्त जब बहुत ही निम्न और क्रूर किस्म की धार्मिक बाधा आम बात थी, हिंदू और इस्लामी धर्मों तथा संस्कृतियों के बीच बेहतर संबंध और धर्मों के मामलों में सहिष्णुता दिखती है। इस वक्त फैली कई गलत धारणाओं के कारण कटुता और दुराग्रह है और यह विचार है कि इस्लाम हठधर्मी तथा बहुत ही असहिष्णु है। लेकिन इतिहास बताता है कि अपने शुरुआती चरणों में इस्लाम बहुत ही सहिष्णु था। इसकी राजनीतिक सफलताओं ने इसके आध्यात्मिक जीवन को क्रमशः ढंक दिया, पुरोहिती छल और शासन-छल को बढ़त मिल गई और इसने काफी असहिष्णुता तथा उपद्रव भर दिया जो आरंभिक तौर पर बहुत कम था। सच्चाई यह है कि असहिष्णुता, कुछ हद तक, हर धार्मिक व्यवस्था में शामिल लगती है हालांकि यह विभिन्न धर्मों में भिन्न रूप धारण कर लेती है और ज्यादा या कम स्तर तक शामिल हो सकती है। लेकिन इतिहास हमें इसका प्रमुख हिस्सा इस्लाम को देने की इजाजत देता नहीं लगता। इसके विपरीत हम पाते हैं कि एक राजनीतिक शक्ति के तौर पर इस्लाम ने किसी अन्य धर्म की तरह ही सहिष्णु ढंग से व्यवहार किया और अपने विकास की शुरुआत में अपने संपर्क में आने वाले लोगों के साथ निबटने में कुछ मामलों में कहीं अधिक सहिष्णु रहा। यह सिद्धांत कि इस्लाम तलवार के जोर पर फैला, इतने विस्तृत ढंग से और इतना लगातार फैलाया गया है कि औसत भारतीय मन में यह प्रस्तावना स्वतः सिद्ध प्रमाण की तरह लगभग घर कर गई है। और चूंकि यह बात गहरे मिथ्याबोध के लिए उत्तरदायी है और आज की हिंदू-मुस्लिम समस्या को तीक्ष्ण बनाती है, हम कुछ विवरण देते हैं जो हमें चीजों को उचित परिप्रेक्ष्य में देखने में मदद कर सकते हैं।

अन्य मतों के विपरीत इस्लाम में सहिष्णुता

ईसाईयत को लें। हाल तक ईसाई चर्च अपने क्षेत्राधिकार में चेतना को लेकर कोई ढील बर्दाश्त नहीं करता था। अन्य मतों के प्रति कठोर और क्रूर रहते हुए इसने अपने प्रोटेस्टेंटों और भिन्न मतावलंबियों को कभी छोड़ा नहीं। जिस अवधि पर हम विचार-विमर्श कर रहे हैं, इसके उपद्रव का तेज इतना क्रूर था कि इसने अपनी ईसाई प्रजा के बड़े वर्ग को इस हद तक दूर कर दिया कि जब इस्लाम का अरब-क्षेत्र से उदय हुआ और ईसाई क्षेत्रों में आक्रमणकारी के तौर पर गया

तो ईसाई आबादी ने उसका मुक्तिदाता के तौर पर अभिवादन किया। ईसाई शासन के लगभग सभी देशों से इसके उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं, लेकिन हमारे विचार को पुष्ट करने के लिए निम्न उद्धरण ही पर्याप्त हैं :

"इमेस्सा के लोगों ने हरक्यूलिस की सेना के खिलाफ अपने शहर के दरवाजे बंद कर दिए और मुसलमानों से कहा कि वे लोग ग्रीकों के अन्याय और दमन के बदले उनकी सरकार और न्याय बेहतर समझते हैं।

"633-39 ई. के अभियान के दौरान सीरिया में भावना की यह स्थिति थी जिसमें अरबों ने रोमन सेना को क्रमशः क्षेत्र से बाहर निकाल दिया। और 637 ई. में जब दमस्कस ने अरबों के साथ शर्तों को तय किया और इस तरह लूट से मुक्ति और अन्य लाभकारी स्थितियां प्राप्त कीं, सीरिया के अन्य शहर भी उसे अपनाने में पीछे नहीं रहे। इमेस्सा, अरेथुसा, हायरोपोलिस और अन्य शहरों ने संधियां कीं और इस तरह अरबों को कर देने वाले बन गए। यहां तक कि येरुश्लम के मुख्य मुस्लिम शासक ने समान शर्तों पर शहर सौंप दिया।"[13]

इसी लेखक ने येरुश्लम के आत्मसमर्पण के तथ्यों को इस तरह रखा है :

"जब येरुश्लम ने मुख्य मुस्लिम शासक उमर के सामने समर्पण किया तो निम्न शर्तें तय की गईं : 'दयालु, कृपालु अल्लाह के नाम पर मैं, उमर, अल्लाह का सेवक, बात का पक्का सेनापति, येरुश्लम की जनता को ये शर्त देता हूं। मैं उनके जीवन, उनकी संपत्ति और उनके बच्चों, उनके चर्चों, उनके क्रास और उनकी पूर्णता में उनके संबंध और उनकी भूमि और उनके धर्म से संबंधित सभी चीजों की सुरक्षा देता हूं। उनके चर्च किसी तरह साधनहीन नहीं बनाए जाएंगे, न तो उन्हें तोड़ा जाएगा, न क्षतिग्रस्त किया जाएगा, न उनका धन लिया जाएगा, न महत्व छीना जाएगा; न उनकी संपत्ति से कुछ लिया जाएगा; अपने धर्म का अनुसरण करने पर येरुश्लम के लोगों के साथ हिंसा नहीं की जाएगी; न किसी को भी घायल किया जाएगा।' उन पर कर लगा दिए गए–धनवानों के लिए पांच दीनार, मध्य वर्ग के लिए चार और गरीबों के लिए तीन दीनार। पादरी के साथ उमर ने पवित्र स्थानों का दौरा किया और कहा जाता है कि जब वे चर्च में थे और वह प्रार्थना का निर्धारित समय था, मुख्य पादरी ने मुस्लिम शासक से वहां अपनी प्रार्थना करने का अनुरोध किया लेकिन उसने सोच-विचारकर यह कहते हुए मना कर दिया कि अगर वह ऐसा करेगा तो उसके अनुयायी बाद में दावा कर सकते हैं कि यह स्थान मुस्लिम प्रार्थना के लिए है।"[14]

हम 17 वीं शताब्दी में तुर्की शासन से सिर्फ एक और उदाहरण देंगे जिससे पता चलेगा कि मुस्लिम सहिष्णुता और ईसाई असहिष्णुता के चरित्र उस समय

13. "द प्रीचिंग आफ इस्लाम", टी. डब्ल्यू. आर्नल्ड, पृ. 49

14. वही पृ. 51

तक समान रूप से उसी तरह जारी थे।

"लेकिन अगर हम बच्चों के शुल्क को छोड़ दें, जिस विषय में विजेता ग्रीक ने बहुत कम प्रतिकार किया और जिससे इसके विलोप से अनुग्रहीत हुआ, इसके जारी रहने के विरुद्ध न विद्रोह हुआ या राज विद्रोह हुआ बल्कि तुर्की आबादी और स्वधर्मत्यागियों की संख्या बढ़ी जो सुल्तान की सेवा में शामिल होने के लिए लगातार बढ़ रही थी, तुर्की राजाओं द्वारा उनकी ईसाई प्रजा के प्रति व्यवहार-ग्रीस पर विजय के बाद कम-से-कम दो शताब्दियों तक—ने सहिष्णुता प्रदर्शित की जो उस वक्त शेष यूरोप में लगभग कहीं नहीं पाई जाती थी। हंगरी और ट्रैंसिल्वैनिया के काल्वीनिस्ट और ट्रैंसिल्वैनिया के अद्धैतवादी हैप्सवर्ग के झक्की लोगों के हाथों में पड़ने से बेहतर तुर्कों के अधीन जाना बेहतर मानते थे; और सिलेसिया के प्रोटेस्टेंट तुर्की के प्रति आंखें बिछाए रहते थे और मुस्लिम शासन के अधीन होने की कीमत पर अपनी धार्मिक स्वतंत्रता बचा लेते थे। यह तुर्की ही था कि पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में पीड़ित स्पेनी यहूदियों ने बड़ी संख्या में जाकर शरण ली और पुराने विश्वासियों की जमात वालों और रूसी शासन वाले चर्च से पीड़ित रूसी सिपाहियों ने सुल्तान के शासन में सहिष्णुता पाई जिससे उनके ईसाई भाइयों ने उन्हें वंचित कर रखा था। सत्रहवीं शताब्दी में एंटिओक के पादरी मैकेरियस ने स्वयं को धन्यवाद दिया जब उन्होंने वे भयपूर्ण अत्याचार देखे जो डंडे कैथोलिक आर्थोडाक्स ईस्टर्न चर्च के रूसियों पर बरसते थे।

"हम सभी लोग उन हजारों शहीदों पर बहुत रोये जिन्हें उन चालीस या पचास साल में धर्म के शत्रुओं, अधर्मी नराधमों ने मार डाला। यह संख्या सत्तर या अस्सी हजार तक थी। अरे ओ धर्मनिंदको! अपवित्रता के राक्षस हो! अरे, तुम पत्थर दिल वालो! ननों और महिलाओं ने क्या किया था? बच्चियों और बच्चों और शिशुओं ने क्या किया था जो तुम्हें उन्हें मार डालना चाहिए था? ...और मुझे उन्हें शापित क्यों घोषित करना चाहिए? क्योंकि उन लोगों ने आर्थोडाक्स का नाम ही मिटा देने की सोच के साथ ईसाइयों पर क्रूर व्यवहार कर अपने आपको मूर्तियों के भ्रष्ट पुजारियों से भी अधिक नीच और पापी साबित किया। परमात्मा ने तुर्कों का शासन सब दिन और सब दिन के लिए स्थिर कर रखा है; क्योंकि वे अपना महसूल[15] लेते हैं और उन्हें किसी धर्म से मतलब

---

15. जजिया की प्रकृति

यह कर जो गैर मुसलमान को अदा करना पड़ता था किसी तरह पीड़ा देने वाली प्रकृति का नहीं था।

"यह कर ईसाइयों पर, जैसा कि हममें से कुछ लोग सोचते हैं, उन्हें मुस्लिम धर्म स्वीकार करने से मना करने के दंड के रूप में नहीं लगाया गया बल्कि राज्य की प्रजा में से अन्य लोग या गैर मुसलमान आमतौर पर इसलिए देते थे क्योंकि

नहीं होता, उनकी प्रजा ईसाई हो या नाइजीरियन, यहूदी या फलस्तीनी।"[16]

अब फारस की ओर देखें। यहां हम पारसी धर्म को समान रूप से असहिष्णु पाते हैं।

उन्हें सेना में भर्ती से रोक रखा गया था और मुसलमानों से सुरक्षा के बदले वे इसे देते थे।

"...और यह बात उल्लेखनीय है कि जब कोई ईसाई व्यक्ति मुस्लिम सेना में सेवा देता था, तो वैसे व्यक्तियों को इस कर के भुगतान से मुक्त कर दिया जाता था।"

"हम ईसाइयों के मामलों में जजिया से मुक्ति के ऐसे ही उदाहरण पाते हैं जिन्होंने तुर्कों के शासन में सेना या नौसेना में सेवाएं दीं।...

"...दूसरी तरफ, जब मिस्री किसानों, हालांकि वे मुस्लिम थे, को सैन्य सेवाओं से मुक्त रखा गया, उन पर उसी तरह टैक्स लगाया जिस तरह ईसाइयों पर लगाया गया था...

"...लेकिन, जजिया की जगह, धर्म परिवर्तन करने वालों को अब अधिकतर चल और अचल संपत्ति पर वार्षिक रूप से धर्म-दान, जकात देना पड़ता था।" ...("द प्रीचिंग आफ इस्लाम", टी. डब्ल्यू. आर्नल्ड, पृ. 54-57)

पूर्ववर्ती विजेताओं द्वारा तय की गई जजिया की दरें एक समान नहीं थीं और महान मुस्लिम वैद्य, अबु हनीफ और मलिक कम महत्वपूर्ण विवरणों पर एक राय नहीं रखते हैं; हारून-उर-रशीद (786-809 ई.) के अनुरोध पर अबु यूसुफ द्वारा 'किताबु-ल-खराज' से लिए गए निम्नलिखित तथ्य मुख्य मुस्लिम शासक के अंतर्गत मुस्लिम प्रक्रिया में आमतौर पर अपनाया गया माना जा सकता है। वर्ष भर में धनाढ्यों से 48 दिरहम, मध्य वर्ग से 24 जबकि गरीबों, अर्थात् खेतिहर मजदूरों और कारीगरों से 12 दिरहम लिए जाते थे। यह टैक्स इच्छा होने पर वस्तु के रूप में भी अदा किया जा सकता था; नकद के बदले गाय-बैल, व्यापारी माल, घरेलू सामान, यहां तक कि सूई भी स्वीकार किए जाते थे लेकिन सुअर, शराब या मरे पशु नहीं। टैक्स सिर्फ शारीरिक रूप से सक्षम लोगों पर लगाए जाते थे, और महिलाओं या बच्चों पर नहीं। वैसे गरीब, जो अपने जीवन-यापन के लिए भिक्षा पर निर्भर थे और वृद्ध लोग जो काम में अक्षम थे, भी खास तौर पर इससे मुक्त रखे गए थे; इसी तरह अंधों, विकलांगों, लाइलाज रोग वालों और पागलों को भी इससे छूट मिली हुई थी, बशर्ते वे धनाढ्य न हों; यही स्थिति पुजारियों और भिक्षुओं के साथ थी, अगर वे धनाढ्यों से धर्म-दान पर आश्रित रहते थे तो उन्हें मुक्त रखा गया था लेकिन उन्हें यह तब भुगतान करना पड़ता था, अगर वे अच्छे खाते-पीते और सुख-समृद्धि में रहते थे। जजिया वसूलने वालों को भुगतान न होने की स्थिति में दयालुता बरतने और सभी तरह के कड़े व्यवहार या शारीरिक दंड न देने का खास तौर पर निर्देश दिया गया था।

16. "द प्रीचिंग आफ इस्लाम", टी. डब्ल्यू. आर्नल्ड

"पारसी धर्माचार्यों ने सरकार में अच्छा प्रभाव पाया हुआ था; वे लोग राज परिषद में काफी शक्तिशाली थे और नागरिक प्रशासन में उन लोगों ने काफी हिस्से पर अधिकार किया हुआ था। उन लोगों ने अपनी शक्ति का फायदा उठाते हुए अपने से मतभेद रखने वाले उन सभी धार्मिक संगठनों—और ऐसे कई थे—में बाधा डालते रहते थे। पारसी धर्म के पुराने तौर-तरीकों के काफी अनुयायियों के अलावा ईसाई, यहूदी और कई मतावलंबी थे जिनमें से ज्ञान-संबंधी विचारों और बौद्धों को जगह मिली हुई थी। इन सब में बाधाओं के कारण स्थापित धर्म और उस शासन के खिलाफ तीखी घृणा का भाव था जो इस उत्पीड़न का समर्थन करता था और इस कारण मुक्ति के प्रकाश की आशा में अरब विजय हुई। इन सभी विभिन्न धर्मों के अनुयायियों ने ऐसे शासन में दुबारा सांस ली जिसने उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता दी और हल्के टैक्स के भुगतान पर सैन्य सेवा से मुक्ति दी। मुस्लिम कानून ने सहिष्णुता प्रदान की और जजिया का भुगतान न सिर्फ ईसाइयों और यहूदियों से बल्कि पारसियों, मूर्तियों, अग्नि और पत्थरों को पूजने वालों से भी लिया जाता था। कहा जाता था कि मुहम्मद साहब ने स्वयं खास तौर पर निर्देश दिया था कि पारसियों के साथ यहूदियों और ईसाइयों की तरह ही व्यवहार किया जाए और सुरक्षा की एवज में उनसे जजिया लिया जा सकता है।"

फिर,

"लेकिन मुस्लिम धर्म का खुले दिल से स्वागत नगरवासियों, औद्योगिक वर्गों और शिल्पकारों ने किया जिनके पेशे पारसी धर्म के अनुसार अशुद्ध हो गए थे क्योंकि अपने व्यापार या पेशे के साथ अनुसरण में वे अग्नि, भूमि या जल को अपवित्र करते थे और जो इस तरह कानून की नजरों में परित्यक्त थे और परिणामस्वरूप उन पर न्यून ध्यान दिया जाता था; इसलिए उन्होंने ऐसे धर्म का उत्कटता से आलिंगन किया जिसने उन्हें एकबारगी स्वतंत्रता दी और धर्म में समान बंधु-भाव दिया।"[17]

फारस से इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया। यहां भी अरबों की उन स्थानीय निवासियों ने बड़ी संख्या में मदद की जो अपने ही लोगों से असंतुष्ट थे।

"इन अरब सेनाओं के अलावा मुहम्मद बिन कासिम ने बड़ी संख्या में असंतुष्ट जाटों और मेदों को अपने साथ संगठित किया जिन्हें उस असहिष्णु हिंदू सरकार के साथ अपना पुराना हिसाब-किताब चुकाना था जिसने उन पर काफी अत्याचार किए थे। उन लोगों को घोड़े की काठी पर चढ़ने, अच्छे कपड़े पहनने की मनाही और सिर खुला रखने का आदेश था; महज लकड़हारा और पानी ढोने वालों की स्थिति होने के कारण उनमें शत्रुता का इस हद तक कलुष

---

17. "द प्रीचिंग आफ इस्लाम", टी. डब्ल्यू. आर्नल्ड, पृ. 177

था कि वे लोग तुरंत विदेशी के साथ आ गए।"[18]

फिर,

"मुल्तान के लोग, व्यवसायी, व्यापारी और कारीगर, आसपास के वैसे देश के जाट और मेदों ने, जिन्हें उनकी सरकार ने पीड़ा दी थी, आक्रांता की प्रतीक्षा की और उनका आदर-सत्कार किया।"[19]

इस तरह हम देखते हैं कि वह कालखंड धार्मिक पीड़ा का कालखंड था और उस कालखंड में इस्लाम लगभग अपवाद लगता था। कम-से-कम यह अन्य धर्मों से बुरा नहीं था। हम बाद में भी देखेंगे कि भारतीय धर्मों द्वारा की गई असहिष्णुता अन्य धर्मों की प्रकृति से पहले के सामाजिक रीति-रिवाज के कारण भिन्न थी जिसके कारण अपने सर्वोत्तम प्रयत्न के बावजूद भारत विचलित नहीं हो सका। हमने इतने विस्तार से उद्धरण दिए हैं क्योंकि हम आरंभ में ही गलत धारणा को दूर करने की इच्छा रखते हैं क्योंकि इस तरह की धारणाएं ऐतिहासिक घटनाओं और समस्याओं के रास्ते में पक्षपाती विचार बनकर खड़े हो जाते हैं। हमने अब तक जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, वे बताने वाले हैं कि भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के संबंध महमूद गजनवी के आक्रमण के समय तक मित्रवत् और सौजन्यपूर्ण थे : इस सौजन्यता का मुख्य कारण दोनों धर्मों का एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु रवैया था : और यह भी कि मित्रता की इस अवधि के दौरान धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाएं सामने आ गई थीं जिसने उनके जीवन और विचार को अधिक मित्रवत् बनाने में मदद की थी। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि कैसे इन दो धर्मों और संस्कृतियों की एकता ने राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रिया और प्रतिक्रिया की। जहां तक संभव होगा, हम उन चीजों पर केंद्रित रहेंगे जिन्होंने दो समुदायों के आपसी संबंधों पर प्रत्यक्ष तौर पर प्रभाव डाला।

---

18. "मेडीएवल इंडिया", डा. ईश्वरी प्रसाद, पृ. 50
19. वही।

2

सामाजिक समस्या

आठवीं शताब्दी में भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति

इस अध्याय में हम उस सामाजिक समस्या के विचार पर अपने को केंद्रित करेंगे जिससे भारत इस देश में इस्लाम के आगमन के समय रू-ब-रू था; और हम उस समस्या के समाधान की तरफ इस्लाम की भूमिका की प्रकृति की ओर संकेत करने का प्रयत्न करेंगे।

मुहम्मद साहब के अंतिम वर्षों और पहले तीन खलीफाओं के शासन के दौरान भारत के उत्तर क्षेत्र में पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) में अपने केंद्र वाले गुप्त राजवंश के विध्वंस पर राजा हर्ष ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसकी आकांक्षा पूरे भारत पर विजय की थी लेकिन उसे पुलकेशी द्वितीय ने रोका जिसने देश के आधे दक्षिणी हिस्से में अपनी प्रधानता बना रखी थी। राजा हर्ष ने अपने महान राज्य को शांति और प्रगति के मार्ग पर रखा था। वह वैदिक हिंदुत्व और बौद्ध धर्म के प्रति समान रूप से सहिष्णु था और उसने निरपेक्ष तौर पर दोनों की मदद की; 647 ई. में उसके निधन के बाद से बौद्ध धर्म का अवसान आरंभ हो गया और धार्मिक अनाचार का समय आरंभ हो गया जब विभिन्न पुराने तथा नए धर्मों ने अपने प्रभुत्व के लिए संघर्ष आरंभ कर दिया।

"आनंद गिरि ने अपने 'शंकर-दिग्विजय' में आठवीं शताब्दी में भारत की धार्मिक स्थिति का चित्रण किया है। उन्होंने उन विभिन्न पंथों का उल्लेख किया है जो सामने आए और सभी तरह के देवताओं–सबसे सुंदर और उच्चतम से आमोद-प्रमोद में लिप्त और विलक्षण आचार से प्रसन्न होने वाले सर्वाधिक प्रतिघाती देवताओं की पूजा के बारे में बताया है। परस्पर विरोधी पंथों के अगुआ अपने मतों और व्यवहारों के समर्थन में वेदों को उद्धृत करते थे और एक-दूसरे पर अधिकार की इच्छा रखते थे। कुछ शिव की पूजा करते थे जबकि अन्य अग्नि, गणेश, सूर्य, भैरव, प्रेम के देवता कार्तिक, मृत्यु के देवता यम, वरुण, आकाश, जल, नाग, पिशाच आदि की पूजा करते थे और अपनी इच्छा के अनुरूप काम

करते थे। बौद्ध धर्म के खिलाफ अपने दयाहीन युद्ध के जरिये उदयन ने शंकर के प्रबल मारकाट के लिए रास्ता तैयार किया।"[20]

"इन सभी धर्मों, बल्कि पंथों ने वेदों से अपना अधिकार हासिल किया था और इस क्रम में सभी वर्तमान जाति व्यवस्था से अभिन्न रूप से बंधे हुए थे क्योंकि उस समय सभी, हालांकि गलत ढंग से, विश्वास करते थे कि इस तरह की वंशानुगत जाति की वेदों ने अनुशंसा की है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि गर्मागर्मी और विवाद के अवसरों को छोड़कर सभी एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु थे।

"बौद्ध और हिंदू धर्म साथ-साथ बढ़े और जैन धर्म भी। एक ही शासन में, एक ही शहर में, यहां तक कि एक ही परिवार में, हिंदू, जैन और बौद्ध शांति से, मनुष्य और देवता के सर्वाधिक गहन प्रश्नों पर बिना कलुष, मित्रवत् भाव से विचार-विमर्श करते हुए रहे। अगर पिता शिव का भक्त था, बेटा बुद्ध का उपासक था और वही व्यक्ति परिवार या समाज में कोई समस्या पैदा किए बिना अपने जीवनकाल में अपना धर्म बदल सकता था।"[21]

"इसके अलावा, इस्लाम के मामले में, वे लोग सहिष्णु थे और कई बार अन्य धर्मों के प्रति भी कोमल थे। लेकिन एक-दूसरे के प्रति और बाहरी धर्मों के प्रति इतनी सहिष्णुता के बावजूद वे लोग शूद्रों और अन्य निचली जातियों के प्रति अपने व्यवहार में बहुत असहिष्णु थे। शूद्र सभी धार्मिक ज्ञान और कर्मकांडों से अलग रखे जाते थे। मनु के नियम के वर्तमान गुण-दोष-निरूपण में उन लोगों के खिलाफ ऐसे दंडात्मक प्रावधान हैं जो आधुनिक सोच में अविश्वसनीय लगते हैं। उच्चतम ज्ञान के साथ शूद्रों को अपने देश के राजनीतिक जीवन से भी अलग रखा गया था।

"तीन जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के खास लोग सैनिक और अधिकारी रहते हुए राजनीति में रुचि रखते थे लेकिन शूद्र होने के कारण आम लोग राजनीतिक गतिविधियों की सभी तरह की भागीदारी से अलग रखे जाते थे।"[22]

जीवन के सभी उच्चतर पक्षों से इस आम निषेध के साथ वे लोग कई कठोर शारीरिक क्लेशों और दुर्व्यवहारों को कई तरह से झेलते थे जैसा कि हमने सिंध के मेदों और जाटों के मामले में देखा। आश्चर्य नहीं कि यहां के बच्चे बड़ी संख्या में अपनी स्थिति से असंतुष्ट थे और अपने जीवन को तुच्छ समझते थे। जब हम भारतीय समाज की और निम्न तहों में जाते हैं तो हम एक ऐसी आबादी पाते हैं जो खुद शूद्रों की तरह बड़ी थी और भारतीय सभ्यता और समाज के

---

20. "हिस्ट्री आफ मेडीएवल इंडिया", ईश्वरी प्रसाद, पृ. xi, xii
21. "हिस्ट्री आफ मेडीएवल हिंदू इंडिया", सी.पी. वैद्य, वोल्यूम I पृ. 100
22. "हिस्ट्री आफ मेडीएवल हिंदू इंडिया", सी.पी. वैद्य, वोल्यूम I पृ.121

बाहर थी। शूद्रों को सिर्फ राजनीतिक और जीवन से निकट भागीदारी से अलग *रखा गया था*; लेकिन इन वर्गों को उच्चतर जातियों के साथ किसी भी समय सभी सामाजिक मेलजोल और संपर्क से भी कठोरता से वंचित रखा गया था। शूद्र समाज के इन हतभाग्य वंचकों से उतने ही ऊपर थे जितने ब्राह्मण शूद्र से। इनके निषेध की कठोरता ऐसी थी कि कुछ मामलों में उनकी छाया भी ब्राह्मणों को दूषित कर देती थी और इनमें से कुछ हतभाग्यों को किसी मनुष्य को निकट आते देखने पर अपनी उपस्थिति की सूचना देने के लिए दूर से ही चीखना पड़ता था। यह अद्‌भुत अनियमितता थी कि इस तरह की अमानवीय असहिष्णुता और बाधा उस हिंदू समाज में भी विद्यमान रही जो उस जमाने में भी अपनी बौद्धिक ऊर्जा और आध्यात्मिक तथा नैतिक तीव्रता के लिए सर्वोत्तम थी। लेकिन किसी भी तरह परंपरा और व्यवहार की जड़ें इतनी गहरी थीं कि उन्हें आसानी से उखाड़ा नहीं जा सकता था।

बौद्ध धर्म में भारत की आत्मा इस अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी और इसने इसकी बुनियाद हिला दी थी। लेकिन दयाहीन तर्क और ठंडी नैतिक कठोरता, बौद्ध धर्म के त्यागपूर्ण अस्वीकार और गहन तथा मानव प्रकृति के भावनात्मक पक्ष से कोई मदद लेने से इसकी मनाही ने इसकी योजना की उम्र कम कर दी और भारत की भावनात्मक संस्कृति के लिए यह बहुत शुष्क और अनाकर्षक रही। महायान के रूप में इसके बाद की अवधि के दौरान यह देश के पुराने धर्मों से मुकाबला नहीं कर सका। बुद्ध की प्रतिमा आदरयुक्त भय और आदर-सम्मान की उस तरह की भावना पैदा नहीं कर सकी जो शिव, विष्णु और अन्य प्राचीन देवताओं की प्रतिमाएं पैदा करती थीं। इसके अलावा, वह नया पुरोहित-संबंधी वर्ग जो पैदा हो गया था और जिसने बौद्ध धर्म पर अपने को आरोपित कर लिया था, धीरे-धीरे लोभी, अंधविश्वासी और अनैतिक होता गया। यह अपने ही भार से डूबा जा रहा था जब इसकी कमजोरी का लाभ उठाते हुए ब्राह्मणवाद ने इसके खिलाफ निर्णायक अभियान तेज कर दिया। क्षत्रियों और अन्य उच्चतर जातियों ने भी सहयोग किया क्योंकि निचली जातियों का उभार जिसमें बौद्ध धर्म ने काफी मदद की, उनके हितों का विरोधी था और इसने उनके सामाजिक एकाधिकार और प्रभाव को नीचा कर दिया था। समाज के सबसे अधिक संगठित और संसाधनपूर्ण वर्गों के इस शक्तिशाली गठबंधन ने बौद्ध धर्म को भारत से मिटा दिया और साथ-ही-साथ, स्थापित सामाजिक संरचना के खिलाफ उस विद्रोह को क्रमशः तहस-नहस कर दिया जिसे बौद्ध धर्म ने शुरू किया था।

इस्लाम का उद्भव

जब बौद्ध धर्म और ब्राह्मणवाद के बीच यह संघर्ष जारी था, इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया। ऐतिहासिक आरंभ के साथ अन्य धर्मों की तरह यह मूल रूप से आस्था रखने वालों के नैतिक और सामाजिक उत्थान के उद्देश्य से आध्यात्मिक आंदोलन था। लेकिन फिर, जैसा कि अन्य धर्मों के मामले में है, यह राजनीति के साथ आवश्यक तौर पर जुड़ गया; और इसने इसकी वास्तविक प्रकृति तथा अभिलाषा को संदेहपूर्ण बना दिया। यह प्राथमिक तौर पर महान धर्म सिद्धांतों और श्रेष्ठ दर्शन की दुर्बोध व्यवस्थाओं के बारे में कुछ नहीं जानता था। इसका साधारण संदेश था : "परमात्मा एक है : इसलिए, उसके विनीत सेवकों और प्राणियों के रूप में हम सभी बंधु हैं। तब हम भाइयों की तरह रहें और उसकी आराधना करें।" यह संदेश प्रत्यक्ष या परोक्ष तौर पर सब धर्मों का संदेश है लेकिन इस्लाम की विशिष्टता इस तथ्य में है कि इसके अनुयायियों ने किसी-न-किसी तरह अपना संदेश अन्य धर्मों के अनुयायियों की तुलना में बहुत हद तक अपनी सामाजिक व्यवस्था में समावेश करने में सफलता पा ली। परिणामस्वरूप जिस मनोवैज्ञानिक काल में यह भारत में आया, इस विशिष्टता ने भारत के निचले वर्गों के मन में बहुत बेहतर विकल्प के तौर पर जगह बना ली। उनका दिमाग उत्तेजना की स्थिति में था और उनके क्षोभ के कारण प्राचीन सामाजिक निर्दयता उन पर अधिक जोरदार ढंग से बरस रही थी। इसके अलावा, स्वतंत्रता की इच्छा अभिव्यक्ति का कोई मार्ग जरूर तलाश रही होगी और यह नए धर्म की सामाजिक व्यवस्था से उपलब्ध थी।

यह उस महान सफलता का विवरण है जो इस्लाम के भारत में प्रवेश का कारण लगता है। यह आक्रमणकर्ता की तलवार से नहीं बल्कि स्वदेशी जातीय निर्दयता के कारण फैला। इसने भारत की बड़ी आबादी की सामाजिक उत्कंठा को संतुष्ट किया। इसके अलावा, इसका उस विरोध से भी सामना नहीं हो सका जिसने बौद्ध धर्म को भारत से बाहर किया। उच्चतर जातियों से निचले वर्ग अपने सामाजिक स्थानों में प्रवेश पर त्रासद थे। इससे उन्हें कोई मतलब नहीं था कि ये वर्ग अन्य धर्म स्वीकार करते हैं और किसी अन्य सामाजिक व्यवस्था के हिस्सा बन जाते हैं।[23] वस्तुतः अपनी सामाजिक अर्थव्यवस्था से बाहर किसी अन्य

---

23. बहुत पीछे के समय का क्या कहें, यह भावना आज भी कट्टरपंथियों के बीच बनी हुई है। अभी हाल ही में बनारस में गंगा के स्नान वाले घाट पर एक वृद्ध बंगाली को तब यह कहते सुना गया, 'ए. बरजन जच्चे', जब एक युवक ने उसे यकीन दिलाने की कोशिश की कि इन जाति निर्दयताओं के कारण हिंदू धर्म अपने अनुयायियों को खोता जा रहा है। "ए. बरजन जच्चे" का अर्थ है "तुच्छ पदार्थ बाहर जा रहे हैं।"

व्यवस्था की उपस्थिति जो इन वर्गों को अपने में समेट सके, उन्हें एक लाभ ही लगा क्योंकि यह दबाव और अपने बीच के संभावित खतरे को दूर करेगा।

एक दूसरा पक्ष भी है।

जैसा कि हमने देखा, पहले की तरह उस अवधि में सामाजिक तौर पर भारत सांप्रदायिक धर्मों और रीतियों के जरिये अलग-अलग जातियों का समूह था। लेकिन इन छोटे और बड़े समूहों ने वह सामूहिक चेतना विकसित नहीं की थी जो वर्तमान सांप्रदायिकता में घुली-मिली है। लोगों में एक समूह के तौर पर निस्संदेह एकता थी; लेकिन एक अस्पष्ट, विस्तृत, ढीली-ढाली सामाजिक-धार्मिक एकता थी, प्रभावी और सक्रिय शक्ति थी जो जाति-व्यवस्था में कठोरता के विकास के प्रत्यक्ष औसत में क्षरण की शुरुआत थी। उच्चतर जातियां सामान्य सांस्कृतिक गठजोड़ों से एक-दूसरे से बंधी हुई थीं और समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक विकास में किसी सामूहिक सांप्रदायिक पूर्वाग्रह भावना के बिना उनमें गठबंधन था। निचली जातियां हिंदू धर्म या संस्कृति के दायरे के लगभग बाहर उच्चतर जातियों के साथ चेतनायुक्त संबंध के बिना बंधी हुई थीं। और हालांकि भाषा, वेशभूषा, खान-पान तथा जीवन के छोटे-छोटे हिस्सों में उनके क्षेत्र बहुत स्पष्ट ढंग से विभाजित थे, तब भी उन दिनों के भारतीय जीवन में अपने वर्तमान पश्चिमी रूप में क्षेत्रीय पक्षपात और विचार ने स्थान नहीं पाया था। परिणामस्वरूप, एक खास तरह के सामाजिक वैशिष्ट्य के साथ देश के किसी भी हिस्से में सांप्रदायिक या क्षेत्रीय अवरोध नहीं थे। वस्तुतः भारत के जातिगत जीवन ने इस तरह के अवरोधों को असंभव बना दिया था। इस तरह बने समाज में अपने पड़ोसी के जीवन के विशिष्ट पक्ष में दखलंदाजी के बिना किसी के अपने जीवन जीने का स्वागत था। किसी समूह या व्यक्ति के धर्म परिवर्तन से किसी गंभीर परिणाम या मतभेद की उन दिनों कोई गुंजाइश नहीं थी क्योंकि इस तरह के धर्मत्याग के बाद भी मूल समूह का जीवन बना रहता था और बाहर जाने वाले समूह को अपना जीवन जीने की छूट मिली हुई थी। भारतीय जीवन का यही पक्ष था जिसने सामूहिक सांप्रदायिक चेतना का ऊपर से दबाव असंभव बना दिया था। समूह में संख्या की वृद्धि या कमी की घटना अयुक्तपूर्ण थी क्योंकि जीवन की आर्थिक तथा राजनीतिक चिंताएं वर्तमान रूप में बहुत छोटे सांप्रदायिक संघर्ष के तौर पर विद्यमान थीं।

वह भार जो राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी समूहों में संख्या-बल से संबद्ध है, बहुत हद तक आज के लोकतांत्रिक और प्रतिनिधि संस्थाओं का उपहार है। दो धर्मों के अनुयायियों में विद्यमान वर्तमान सामूहिक चेतना, जो प्रत्येक को अलग-अलग राजनीतिक और आर्थिक हितों वाली अलग-अलग पहचान का बोध कराती है, ने अभी जन्म नहीं लिया था। क्योंकि दोनों जीवन की उच्चतम चिंताओं में एक साथ सहयोग कर सकते थे और करते थे और दोनों के बीच संदेह एवं उत्तेजना

वाली फूट पैदा करने वाला तीसरा पक्ष मौजूद नहीं था।

इस तरह, कटुता और संघर्ष से मुक्त और उन सामाजिक प्रतिबंधों से भी मुक्त जिनसे निचली जातियां बंधी हुई थीं, इस्लाम भारतीय समाज की हर परत में अपना अभियान बंधनहीन होकर चला सकता था। अप्रत्यक्ष तौर पर, सभी जाति बंधनों से पूरी तरह मुक्त सामाजिक व्यवस्था की निकटता और अरक्षणीय 'मुझे मत छुओ वाद' ने हिंदू विद्वत समाज और चेतना में अपने सामाजिक जीवन के घोर महाअपराधों से ऊपर उठने के प्रति चेतावनी और उत्तेजना पैदा की थी। बौद्ध धर्म ने इस व्यवस्था की बौद्धिक और नैतिक आधारभूमि को पहले से ही जड़ से उखाड़ दिया था। हालांकि शंकर ने इसके खिलाफ अपनी शक्ति नहीं लगाई थी, फिर भी उनके बाद के लगभग सभी महान सुधारकों ने इसे अतार्किक और इसके वैदिक धर्म के वास्तविक सिद्धांतों के खिलाफ होने की बात कहकर इसकी निंदा की थी। उनकी सफलता की तुलना में इन उपदेशों ने आम आदमी की नजरों में इस्लाम की प्रतिष्ठा परोक्ष रूप से बढ़ाई और वे इसकी सफलता में सहायक हुए। हिंदू व्यवस्था की त्रासद निश्चलता और अपने ही सुधारकों के आह्वान के प्रति प्रतिक्रिया में इसकी विफलता से इस्लाम में धर्म परिवर्तन की संख्या बढ़ना जारी रहा। इस्लाम सामाजिक व्यवस्था के वक्त की जरूरत बन गया जिसकी हिंदू धर्म ने अनदेखी जारी रखी और जिसकी संतुष्टि राष्ट्रीयता और मानवीयता के विस्तृत हितों में आवश्यक थी।

इसके सामाजिक कार्य

भारत में इस्लाम के सामाजिक कार्य की वास्तविक प्रकृति राजनीति और विद्वानों के 'द्वेषपूर्ण अध्यात्मवाद' के मिलन के मामले के कारण संदेहपूर्ण रही है। कुछ मुस्लिम शासकों द्वारा धर्मांधता और सत्ता या नीति के गौरव के जरिये असहिष्णुता और कठोरता करने तथा अपने इतिहास लेखन में उसके अतिशय वर्णन के कारण यह भावना पैठ गई है और यह विचार फैल गया है कि इस्लाम जोर-जबरदस्ती या अन्य गलत तरीकों से फैला है। हमने पिछले अध्याय में देखा है कि इस तरह का विचार एकपक्षीय और बहुत भ्रमित करने वाला है। यही नहीं, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान संबंधी वर्तमान जानकारी से यह बात निर्विवाद हो गई है कि कोई भी धर्म भ्रम या जोर-जबरदस्ती के जरिये बड़े पैमाने पर न तो लंबे समय तक टिक सकता है या न फैल सकता है और किसी धर्म की सफलता का एकमात्र और मूलभूत कारण यह है कि वह लोगों की सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक जरूरतों को संतुष्ट करता है। "हम अब तक जान गए हैं कि भ्रम का अस्थायी प्रभाव चाहे जो हो, धर्म हृदय की सच्चाई से जीते और फैलते हैं।[24] वस्तुतः इस तरह

24. जे. एस्टलिन कारपेंटर, "द प्लेस आफ क्रिस्चिएनिटी एमंग द रेलिजिंस आफ द वर्ल्ड"

के आंदोलनों की वास्तविक प्रकृति को परखने का एकमात्र आधार और उनकी सफलता के वास्तविक कारण वे उपयोगिताएं हैं जो उन लोगों के लिए हैं जिनके बीच उन्हें जन्म लेना और फैलना है। और हमें उसकी उपयोगिता को मानवीय तथा प्राकृतिक नजरिये से परखना चाहिए। इस तरह देखने पर यह समझ में आएगा कि सामाजिक दायरे में 'इस्लाम ने अपने अनुयायियों को जो सुविधा दी है, वह मूल रूप से रचनात्मक है। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि भारत में जब तक जाति-अवरोध और इतनी बड़ी संख्या में वंचित वर्ग रहेंगे और हिंदू धर्म इन अवरोधों को नहीं हटाएगा और अपने धार्मिक, सांस्कृतिक और समाज-अर्थव्यवस्था में समान अवसर के उचित स्थान नहीं देगा, भारत के लिए इस्लाम का उपयोग समाप्त नहीं होगा।

हिंदू समाज के निम्नतम स्तर पर खड़े कोरी और चमार जैसे वर्गों के लिए इस्लाम जो लाभ पहुंचाता है और धर्म परिवर्तन के कारण उन्हें जो मुक्ति मिलती है, उसे निम्नलिखित उद्धरण से समझा जा सकता है जो हिंदुओं के तौर पर उनकी सामाजिक स्थिति का विवरण है : 'कोरी, चमार, बुनकर और चमड़ा उतारने वालों को दुर्गति और मानभंग की निम्नतम स्थिति झेलनी पड़ती है। उत्तरी जिलों में इनमें से कई को वस्तुतः बंधुआ गुलाम रहना पड़ता है, उन्हें शायद ही अपने न्यायालयों द्वारा सुझाए गए उपायों का लाभ उठाने का मौका मिल पाता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनके बच्चों का बहुत पहले खरीदे सामान की तरह इस्तेमाल होता रहता है। वे लोग उन ब्राह्मण या क्षत्रिय मालिक के लिए हल चलाते हैं जिनका जाति-गौरव उन्हें इनको छूने से रोकता है; ये लोग गांव के शेष हिस्से से दूर अलग घरों में अपने से कम ही साफ सुअरों के साथ रहते हैं। हर वक्त ये भुखमरी से जूझते हुए अपने कृशकाय, काले और फटे-पुराने कपड़ों में लिपटे, अपने अरोचक चेहरे और अपनी प्रतिघाती गंदी आदतों से दीन भाग्य दर्शाते हैं जिससे अपने साथ के लोगों के बीच वे पशुओं से भी बदतर लगते हैं और फिर भी अपने बीच से सक्रिय और उपयोगी स्थायी उन नौकरों से बेहतरी में अक्षम साबित होते हैं जो यूरोपीय मालिकों से बेहतर पैसे पाते हैं और बेहतर ढंग से जीवन बिताते हैं। उनके पास धर्म परिवर्तन एकमात्र छुटकारा है और उन्हें अपने वर्तमान धर्म के प्रति बंधे रहने का बहुत कम कारण होता है।

''यह वर्ग पूर्वाग्रह की अनुपस्थिति ही है जो भारत में इस्लाम की वास्तविक शक्ति होती है और हिंदुत्व से इतनी अधिक संख्या में परिवर्तन में सहायक होती है...'[25]

हमारा इतिहास इस नजरिये से समस्या को प्रस्तुत नहीं करता। वे एक साथ अधिक संख्या में होने वाले धर्म परिवर्तनों और धार्मिक उपद्रवों को लेकर

25. "द प्रीचिंग आफ इस्लाम", टी. डब्ल्यू. आर्नल्ड, पृ. 239, 240

आमतौर पर अनिश्चित बातें बताते हैं जो वास्तविक मुद्दों पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं और हमें अभियान की सफलता के वास्तविक कारणों तक पहुंचने में बाधा खड़ी करते हैं।

उदाहरण के तौर पर बंगाल को लें।

"यहां इस्लाम को अपनी प्रगति से रोकने में किसी ठोस धार्मिक व्यवस्था से नहीं जूझना पड़ा जैसा कि भारत के उत्तर-पश्चिम में हुआ जहां मुस्लिम आक्रमणकर्ताओं का बौद्ध धर्म पर विजयपूर्ण संघर्ष के बाद नए जीवन और शक्ति वाले ब्राह्मणवाद से साबका पड़ा; जहां, बाधाओं के बावजूद, हिंदुओं के विरोध में इसका प्रभाव प्रेरणा देने वाली शक्ति थी और गहनतम पीड़ा तथा मानभंग के क्षणों में यह उन्हें अपने साथ रखने में कामयाब रहा। लेकिन बंगाल में मुस्लिम धर्म प्रचारकों का अपने गौरवशाली आर्य शासकों द्वारा तिरस्कृत, निंदित, हिंदुत्व की सरहदों पर रहने वाली निचली जातियों ने बांहें फैलाकर स्वागत किया। इन गरीब लोगों, मछुआरों, शिकारियों और जमीन जोतने वाली निचली जातियों, के लिए इस्लाम दैवी प्रकाशन की तरह था। यह सत्ताधारी वर्ग की जाति थी, इसके धर्म प्रचारक उत्साही लोग थे जिन्होंने परमात्मा की एकता का और तुच्छ तथा तिरस्कृत आबादी वाले लोगों में समानता का उपदेश दिया। आरंभिक रीति वाले बिखराव में वापसी असंभव थी और धर्मत्याग करने वालों और उनकी संतानों को सब दिन के लिए सच्चा धर्मपालक बना दिया। इस तरह, इस्लाम भारत के सबसे धनी तटवर्ती राज्य में जम गया, ऐसा राज्य जो सबसे तेज और घनी वृद्धि वाली आबादी के समर्थन में सक्षम था। जबरन धर्म परिवर्तन की बात भी कभी-कभी दर्ज की गई। लेकिन यह निचले बंगाल में इस्लाम की स्थायी सफलता का कारण नहीं था। यह लोगों को लुभा गया और गरीब लोगों के बीच बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन हुआ। यह परमात्मा का उच्चतर विचार और लोगों के बीच भाईचारे का अनोखा विचार सामने लाया। इसने बंगाल की निचली जातियों में नए सामाजिक संगठन में मुक्त प्रवेश की आशा जगाई जो हिंदू समुदाय के बिल्कुल बाहरी, तुच्छ रूप में युगों से रह रहे थे।"[26]

फिर,

"बंगाल में, उदाहरण के तौर पर, सूती वस्त्रों के बुनकरों, जिन्हें उनके हिंदू सहधर्मी अधम के तौर पर देखते हैं, ने निचली स्थिति से उबरने के लिए इस्लाम का आलिंगन किया।

"बंगाल के 1.90 लाख मुसलमानों में 25,000 से अधिक वैसे लोग नहीं हैं जिन्हें बंगाल में भद्रलोग वर्ग के रूप में जाना जाता है।"[27]

---

26. "द प्रीचिंग आफ इस्लाम", टी. डब्ल्यू. आर्नल्ड, पृ. 229, 230

27. वही, पृ. 228-230

इस वक्त भारत में बुनकर समाज के लगभग दस लाख मुस्लिम हैं जो बुनकर के पेशे में वास्तविक रूप में संलग्न हैं। इस संख्या से लगभग दुगुने जो इस वर्ग या जाति से हैं, देश के अन्य हिस्सों में काम कर रहे हैं और कुछ ने अपनी पहचान राजनीतिक नेताओं, प्रशासकों और जनप्रतिनिधियों आदि के रूप में बनाई है। ये तथ्य हमें समस्या की वास्तविक प्रकृति और विकास के समान अवसरों से निचले वर्गों को अलग-थलग रखने में राष्ट्रीय क्षति के विषय के बारे में कुछ विचार देते हैं।

इस्लाम मूल रूप से सामाजिक आंदोलन

जबरन धर्मांतरण के सिद्धांतों को बढ़ाकर नहीं बल्कि दो सामाजिक व्यवस्थाओं की विशिष्टता पर गहराई से ध्यान देकर और उन्होंने राष्ट्रीय जीवन में एक-दूसरे को किस प्रकार मदद की, इसे समझकर ही समस्या की वास्तविक प्रकृति को उचित ढंग से समझा जा सकता है और समझ का रचनात्मक ढंग से उपयोग हो सकता है। हम नीचे एक और उद्धरण देते हैं जो यह दिखाने में काफी मदद करता है कि इस्लाम मूल रूप से एक सामाजिक आंदोलन है और इसकी सफलता के कारणों को उद्घाटित करता है जो वस्तुतः इसके सामाजिक उपयोग के कारण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वस्तुतः, यह इस्लाम का पहला फैलाव नहीं है जिस विषय में स्पष्टीकरण दिया जाना है बल्कि यह धर्म परिवर्तन करने वालों को जो संरक्षण देता है और ऐसे स्थानों पर भी इसकी प्रगति हुई है जहां राजनीतिक दबाव या प्रलोभन का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता।

"और यह प्रगति अब भी जारी है। कुछ अल्पज्ञ पर्यवेक्षकों की राय है कि इस्लाम की नियम निष्ठता के कारण मौत हो रही है या अपने अपमान से वह चोट खाए हुए हैं जिस तरह उसके कई बड़े ऐतिहासिक भवन टूटते दिख रहे हैं, लेकिन इन्हें विभिन्न मूल वाली जातियों, इतिहास और सामाजिक संगठन के बीच इसकी प्रगति के अविवादित प्रमाण द्वारा समर्थन नहीं मिलता है। वहाबी आंदोलन ने आधे अफ्रीका में सफलता पाई है जहां अंध महाद्वीप में फैले 20 करोड़ में से आठ करोड़ लोगों ने इसे अपना लिया है। इसकी साधारणता और अति उत्साह, इसके सैद्धांतिक स्तरों की सुगमता, भाईचारे का गहरा भाव जिसकी यह प्रेरणा देता है, सब मिलाकर इसे नीग्रो लोगों के बीच अच्छाई के लिए शक्तिशाली भाव पैदा करते हैं और जब वे इसे स्वीकार करते हैं तो जादू टोने के विश्वास से ऊपर उठते हैं। लेकिन ये तत्व भारत की मिश्रित जातियों पर भी कम प्रभाव नहीं डालते जहां मुस्लिम धर्मप्रचारक के सामने जाति विलुप्त हो जाती है और हिंदुत्व की परंपराएं अल्लाह के नाम के प्रकाश में धुंधली हो जाती हैं। मुसलमानों की संख्या में वृद्धि आबादी के स्वाभाविक विकास से कहीं अधिक है। पिछली

जनगणना (1901) दस साल पहले (1891,5.70 करोड़) हुई।[28] जनगणना से पचास लाख अधिक की संख्या (6.25 करोड़) प्रदर्शित होती है। चीन में प्रगति की दर अधिक तेज होने का विश्वास है। 1892 में मुसलमानों की संख्या 3 करोड़ का अनुमान था, दस साल बाद पर्यवेक्षक इनकी गणना तीन से चार करोड़ करते हैं, खास तौर से उत्तर और पश्चिम में इस्लाम की कंफ्यूशियस परंपरा के बीच भी इस तरह बढ़ने की शक्ति है। इसकी धर्म प्रचारक शक्ति इसे दृढ़ता से आगे ले जाती है; और न तो राज्य का धार्मिक विश्वास और न बौद्ध धर्म के नष्ट किए हुए रूप इसके विस्तार को रोक सकते हैं।''[29]

ऐसी अद्भुत परिघटना की दृष्टि से जबरन धर्म परिवर्तन की बात बिल्कुल अधूरी है और लगभग अविचारणीय लगती है। कैनन इसाक टेलर ने इसीलिए उस केंद्रीभूत अंतर को स्पष्ट किया है जो इस्लाम को अपने धर्म प्रचार में ईसाईयत से अधिक सफल बनाता है।

''आदमी के भाईचारे का ईसाई आदर्श सबसे ऊंचा है; लेकिन इस्लाम व्यावहारिक भाईचारे—सभी मुसलमानों की सामाजिक समानता का उपदेश देता है। यह बहुत ऊंचे स्तर की रिश्वत है जिसका इस्लाम प्रस्ताव करता है। धर्म परिवर्तन करने वाला विशिष्ट सामाजिक जाति में एकबारगी प्रविष्ट हो जाता है, वह 15,00,00,000 के विशाल बंधुत्व का सदस्य बन जाता है। ईसाई धर्म स्वीकार करने वाला सामाजिक बराबरी के तौर पर नहीं माना जाता लेकिन मुस्लिम भाईचारा वास्तविकता है। हम रीडिंग डेस्क पर 'प्रिय स्नेही बंधु' बहुत अधिक पाते हैं लेकिन इसे दैनिक जीवन में बहुत कम पाते हैं।''[30]

भविष्य के लिए सुझाव[31]

अगर हम इस मामले में हिंदुत्व की इस्लाम या यहां तक कि ईसाईयत से तुलना करते हैं तो हम पाएंगे कि ऊपर दिए गए संकेत के अनुसार किसी तरह की 'रिश्वत' देने की जगह हिंदुत्व अपने ही बच्चों को दूसरी धारा में ठेलने में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। इसे या तो अपनी सामाजिक चेतना का विस्तार करना होगा या स्वाभाविक घिसावट की प्रक्रिया में शांति से एकता कायम करनी होगी।

---

28. रिपोर्ट का प्रकाशन पहली बार 1933 में हुआ
29. "द प्लेस आफ क्रिस्चिएनिटी अमंग द रेलिजिंस आफ द वर्ल्ड", जे.ई. कारपेंटर, पृ. 75-77
30. "लाइफ आफ मोहम्मद", मिर्जा अबुल-फजल, से उद्धृत, पृ. 217
31. "भविष्य के लिए सुझाव" शीर्षक के अंतर्गत जो कुछ भी लिया गया है, वह शुद्ध हिंदू नजरिया प्रस्तुत करता है जिसे मेरे-जैसा इस्लाम में विनम्र विश्वास करने वाला स्वीकार नहीं कर सकता।—मौलाना जफरुल-मुल्क

यह अपने प्राचीन आदर्शों से भटक गया है और दुनिया को आर्यवादी बनाने के आध्यात्मिक मिशन को भूल गया है। इस समय यह उस मिशन का बहुत ही संकरा नजरिया अपना रहा है। लेकिन इसमें काफी सारी नैतिक तथा आध्यात्मिक ऊर्जा अब भी बची हुई है और इसे सामाजिक व्यवस्था का अन्याय दूर हटाने और इसे अपने बंधुत्व को इस्लाम की तुलना में और विस्तृत तथा अधिक वास्तविक बनाने के लिए पुनर्संगठित करने की जरूरत है—बंधुत्व न सिर्फ धर्म बल्कि मानवीयता के मामले में। अगर यह एक बार अपने दिमाग के दायरे की ऊंचाई बढ़ाने का निश्चय कर लेता है जिसकी संभावना इसमें है तो यह सिर्फ दायरे से बाहर को निर्मुक्त और समाहित कर लेगा बल्कि अपनी आंतरिक अर्थव्यवस्था में इस्लाम के साथ-साथ अन्य सभी महान धर्मों को आदरसूचक स्थान दे देगा।

हिंदुत्व कामकाज वाले नजरिये के मामले में कठोर वंशानुगत आधार से तात्कालिक बदलाव लाकर वर्तमान बेमानी जाति-व्यवस्था को वास्तविक सामाजिक संगठन व्यवस्था में परिवर्तन कर साधारण किंतु दूरगामी कदम उठाते हुए इन ऊंचाइयों पर आसानी से पहुंच सकता है। चार जातियों को फिर इस रूप में व्याख्यायित किया जाना चाहिए—यह विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि प्राचीन काल में ऐसा ही था—(1) पढ़ने-लिखने के पेशे के लिए उपयुक्त ज्ञानवान लोग, (2) एक्सक्यूटिव पेशे के लिए उपयुक्त कार्रवाई करने वाले लोग, (3) धन-उत्पादन और धन-प्रबंधन पेशे के लिए उपयुक्त इच्छा रखने (प्राप्त करने की लालसा वाले) वाले लोग, (4) कम बुद्धिमान और शिक्षित न किए जाने वाले श्रमिक जो कम क्षमता में अन्य तीन वर्गों की सहायता मात्र के लिए उपयुक्त (तुलनात्मक तौर पर) हों। और मुख्य पुरस्कार, पारितोषिक या जीवन की (मनोवैज्ञानिक) विलासिताएं, अर्थात् (1) सम्मान, (2) शक्ति, (3) धन, अर्थात् बड़ी व्यक्तिगत संपत्ति, खास तौर पर कलात्मक और (4) मनोविनोद और जीवनयापन के साधनों के मुख्य वर्ग, अर्थात् (1) सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत पारिश्रमिक, (2) किराये, या उत्पादन का हिस्सा या आय, या सार्वजनिक वेतन, (3) सभी किस्म के व्यापार और उद्योग के लाभ और (4) यथेष्ट मजदूरी—इन सबको चार वर्गों के बीच बांटना चाहिए। यह हर व्यक्ति को समाज में उसका उचित स्थान दिलाएगा, उसकी 'आवश्यकताओं' को पूरा करेगा और इसके साथ ही, मुख्य 'विलासिताओं', इच्छा के मुख्य लक्ष्यों के रूप में उद्यम तथा अच्छे काम के लिए उचित उत्प्रेरक उपलब्ध कराएगा।

अब पूरी तरह कारणहीन केंद्र से हट जाने वाली अवरोधक जाति व्यवस्था के चार अंतःनिर्भर और परस्पर मददगार व्यवसाय संबंधी वर्गों के तार्किक सामाजिक संगठन में परिवर्तन की क्रिया मुस्लिमों, ईसाइयों, यहूदियों, पारसियों,

हिंदुओं, बौद्धों, जैनियों, सिखों आदि सभी को किसी भी तरह अपनी जातियों को बदले बिना इन वर्गों में प्रवेश करने की सुविधा होगी।

इससे नाम संबंधी जाति और उपजाति के आधार से व्यक्तिगत आदतों, स्वादों में सहानुभूति और हितों, मित्रता तथा स्वभाव में समानता के आधार पर आपसी खान-पान और आपसी शादी-विवाह का स्वाभाविक बदलाव आएगा।

सभी के लिए आपसी विवाह की स्वतंत्रता होगी या वे अपने अंदर से प्रेरित अनुभव करेंगे। न तो किसी के लिए बाध्यता होगी, न किसी के खिलाफ छुआछूत या नाम-संबंधी जाति और उपजाति के अतार्किक आधार अपने आप समाप्त हो जाएंगे लेकिन इसकी जगह गंदगी, मानव संचारी रोग, बुरी व्यक्तिगत आदतें, और इस प्रकार की स्पष्ट वैज्ञानिक वजहें जुड़ जाएंगीं। धार्मिक सांप्रदायिक शत्रुता गायब हो जाएगी। सबके लिए जीवन अधिक लचीला और सहानुभूतिपूर्ण हो जाएगा। इस भूमि पर निवास करने वाले सभी धर्मों के सभी अनुयायी सतत् धार्मिक घृणा और संघर्ष के कारण साथ-साथ सभी के नाश होने की जगह चार महान स्वाभाविक अंतःनिर्भर पेशेगत समाज के समान सदस्यों के रूप में साथ-साथ, तार्किक रूप से और खुशी-खुशी विकास करेंगे।

"वाणिज्य का लक्ष्य मानव समुदाय की जरूरतों को पूरा करने के लिए धरती के सभी संसाधनों को संगठित करना है; विज्ञान का लक्ष्य ज्ञान की एक व्यवस्था को विस्तार देना है; राजनीति का लक्ष्य सभी देशों में न्याय, शांति और प्रगति को एक सूत्र करना है। इसी तरह धर्म का लक्ष्य विश्वास को प्रेरित करना है।"[32] हम जोड़ सकते हैं कि श्रम का लक्ष्य दूसरों के कार्य में सहायक बनना है।

ऊपर जिस तरह के सामाजिक संगठन का संकेत किया गया है, वह अपने चार मंडलियों या इच्छा (प्राप्त करने की लालसा) वाले लोगों, ज्ञान के अपने लोगों, कार्रवाई करने वाले अपने लोगों और श्रम करने वाले अपने लोगों के वर्णों के जरिये इसे प्राप्त कर लेगा। सत्य के शरीर के तौर पर संगठित जो सभी धर्मों का हृदय है, आवश्यक वैश्विक धर्म के ज्ञान का विस्तार, ज्ञान वाले लोगों का दायित्व भी होगा। अकुशल या कम कुशल श्रम के साथ इन सभी विशिष्टताओं की मदद, श्रम वाले लोगों का दायित्व होगा।

इस तरह का सामाजिक संगठन व्यक्तिवाद को समाजवाद, इच्छित उत्तेजना को वैयक्तिक उद्यम के साथ, परोपकारी प्रोत्साहन को सामाजिक सेवा से मिलाएगा, एक शुद्ध और सर्वजन-उपकारी के साथ-साथ अनुभवी तथा बुद्धिमान कानून सभा, उच्चतम स्व वाला सच्चा स्व-राज को संभव बनाएगा एवं सभी मानवीय समस्याओं के समाधान में मदद करेगा।

---

32. द प्लेस आफ क्रिस्चिएनिटी एमंग द रेलिजिंस आफ द वर्ल्ड", पृ. 113

हिंदुत्व का उच्च मिशन इस तरह का है; और सिर्फ हिंदू मानस उनकी ओर बदलेगा, तब ही इस तरह इसे पूरा किया जा सकता है—अपने सर्वोत्तम और सबसे प्राचीन अपूर्व बुद्धि और परंपराओं के साथ सभी के सहयोग से।

इस्लाम भी इस मिशन में अपनी भागीदारी सफलतापूर्वक कर सकता है, अगर यह यत्नपूर्वक समझने की कोशिश करे कि इसने सिर्फ भारत के आम लोगों को ही अधिकांशतः क्यों प्रभावित किया है, इसके संसारी गौरवों का उन देशों में क्यों नाश हो रहा है जहां इसने महान राज और साम्राज्य की स्थापना की थी, क्या इस तरह के राज और साम्राज्य की स्थापना इसके सिद्धांतों के अनुरूप थी और अगर ऐसा था तो किस हद तक और किन सीमाओं के साथ; और इसने पुरोहित के पद का विकास क्यों किया है जबकि इसके सिद्धांत इस तरह के पुरोहित-संबंधी वर्ग के विरुद्ध हैं; इसे इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ने चाहिए और इनके मिलने के बाद उनके अनुरूप अपने वर्तमान आचारों और व्यवहारों को बदलना चाहिए।

हिंदुओं और मुसलमानों—दोनों को समझना चाहिए कि सभी सांप्रदायिक तनाव का वास्तविक मूलभूत कारण धर्मों की गैरजरूरी अतिशयोक्ति हैं। जीवन की वर्तमान स्थितियों में यदि कोई भी रास्ता है तो लोगों के धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक व्यवहार में सुधार किया जा सकता है, यह मूलभूत सत्य की दूरगामी और विस्तृत शिक्षा है कि सच्चा स्व-शासन जीवन के सभी अंगों में उच्चतर स्वयं द्वारा शासन है। भारत का मिशन अपने संस्थानों में इस सत्य को शामिल करना और इसके आधार पर वास्तविक और वैश्विक मानवीय बंधुत्व कायम करना है। अगर उसके धर्म इस मिशन में उसके साथ सहयोग करने में विफल रहते हैं तो वे अपने मन में ऐसा करेंगे।

3

राजनीतिक समस्या

हर्ष के निधन के बाद राजनीतिक विघटन

हर्ष के निधन के बाद शुरू होने वाला भारतीय इतिहास राजनीतिक भ्रम और विघटन के रूप में चिह्नित है जो प्रायः हर महान शासन की समाप्ति के कारण आमतौर पर होता है। यह छोटे राज्यों का काल है हालांकि इनमें से कुछ आधुनिक यूरोप के राज्यों से काफी बड़े भी थे। 647 ई. में हर्ष की मौत के बाद से 1000 ई. तक राजनीतिक भ्रम बद-से-बदतर होता गया और किसी प्रतिष्ठा का कोई व्यक्ति या राजवंश नहीं हुआ जो राजनीतिक पराक्रम या प्रभुत्व से वह एकता और संगठन लाता जो भारत को गुप्त वंश और हर्ष के साम्राज्य ने दिया था। उस वक्त, जैसी कि डा. ईश्वरी प्रसाद ने टिप्पणी की है, "भारत में जो कमी थी, वह थी राजनीतिक एकता और सामाजिक घनिष्ठता की। उसके सैकड़ों नेतृत्वकर्ता थे; उसकी शक्ति विभिन्न राज्यों के बीच छोटी इकाइयों में छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई थी। इसे उस अवधि के दौरान भौगोलिक अभिव्यक्ति के रूप में वस्तुतः वर्णित किया जा सकता है।"

इस भौगोलिक अभिव्यक्ति को किस तरह राजनीतिक सत्यता में बदला जाए, यह भारत की बड़ी समस्या थी और समस्या की गंभीरता इस बात से समझी जा सकती है कि भारत कोई एक जिला या एक प्रदेश नहीं बल्कि पूरा महाद्वीप है जिसकी आबादी कुल मानव जाति का पांचवां हिस्सा है। छोटी इकाइयों के बड़े में, राज्यों के राजों में और राजों के साम्राज्यों में क्रमशः सम्मिलन वाली प्रक्रिया इतिहास में युद्धों और आक्रमणों की शृंखलाओं के रूप में स्थायी तौर पर है और स्थायी रूप से इन युद्ध और चढ़ाइयों से भारी तबाही और दुर्गति हुई। आरंभिक चरणों में इन युद्धों की संख्या संघर्षरत राजनीतिक इकाइयों जितनी ही थी लेकिन जैसे-जैसे ये छोटी इकाइयां बड़ी में समाहित होती गईं, युद्धों की संख्या तुलनात्मक रूप से कम होती गईं और इन अपेक्षाकृत बड़े समूहों के जीवन में बेहतर सुरक्षा तथा एकरूपता स्थापित होती गई। इस तरह संगठन जारी रहा, बड़े समूह उससे

भी बड़े समूह में विलय होते गए या उसके साथ किसी तरह के स्थायी राजनीतिक संघ में संयोजित होते गए जब तक कि कुछ समय के लिए इस एकता को कायम करने और जारी रखने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली तथा आयोजित प्रधान शक्ति नहीं उभर गई। कुछ ही समय के लिए—क्योंकि इतिहास में यह सतही तौर पर बताया गया है, ये अधिकांशतः दुखदायी खून से आबद्ध संघटन प्रायः होते गए लेकिन बहुत समय न हुआ कि विघटित हो गए। बड़े नरसंहार के बाद छोटे राज्यों को मिलाकर साम्राज्य बने लेकिन एक या दो या तीन पीढ़ी के बाद छोटे राज्यों में फिर बंट गए। राजनीतिक विज्ञान और कला में अब यह गहरे राजनीतिक महत्व का विषय है कि इकाई राज्य की स्थायी और साथ ही साथ प्रभावी प्रशासन के उद्देश्य के लिए क्या सीमाएं हैं; किन सिद्धांतों पर राज्यों को एक संस्था में शामिल करना चाहिए; और क्या राजाधिराज वाला भाव राष्ट्रों के संघ जैसी इकाई के प्रभावी ढंग से रह सकता है। लेकिन इस तरह की समस्याएं और सोच उस दौर में अविचारणीय थीं।

भारत नए राजनीतिक जन्म की प्रसव-वेदना से गुजर रहा था और उसकी धार्मिक तथा जाति विभाजन ने इस वेदना को बढ़ा दिया तथा उस एकता के विकास में देर कर दी जिसके लिए उसके दिल में उत्कंठा थी। हमारे इतिहासकार यूरोपीय राजनीतिक जीवन के विकास से पूर्वाग्रहग्रस्त हैं और इसलिए इस पूर्वाग्रह के प्रभाव के अंतर्गत ही भारतीय समस्या पर आमतौर पर नजर डालते हैं। कहा जाता है, "राजपूतों ने वीरता को आदर्श बनाया जिसने उनके बीच भयंकर युद्ध पैदा किए। वे लोग राजनीतिक संघटन या एकता के उन्नत विचार तक कभी नहीं पहुंच पाए। शायद राष्ट्रीय देशभक्ति का विचार युग से दूर था।" राष्ट्रीय देशभक्ति का विचार तब ही जन्म ले सकता था जब अखिल भारतीय आधार पर क्षेत्रीय एकबद्धता होती और अन्य उसी तरह बने देशों और राष्ट्रों के साथ आर्थिक एवं राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता होती जैसी कि उस समय आरंभ हो गई थी। क्षेत्रीय देशभक्ति के आदर्श का जन्म जो ग्रीस के कुछ पुराने राज्यों में था या मध्य युग के दौरान इटली के शहरों में या फिर जो यूरोप में विकसित हुआ और राष्ट्रवाद के सिद्धांत में बदल गया जो आज चारों ओर है जैसा कि हमने देखा है, जाति और धर्म विभाजन के कारण उस वक्त भारत में स्थान नहीं बना सका था। लेकिन यह अविकास दुखद नहीं बल्कि सौभाग्य था क्योंकि अखिल भारतीय राजनीतिक संघटन के विकास से पहले अगर भारत में क्षेत्रीय देशभक्ति की भावना विकसित हो ज़ाती तो वह यूरोप आज जितना विभाजित है, उससे अधिक संख्या आपस में स्वतंत्र और संघर्षपूर्ण इकाइयां होतीं। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत लगभग छह सौ भारतीय राज्य हैं और ब्रिटिश भारत ने कम-से-कम इसके आधे को समाहित किया है। असमय क्षेत्रीय देशभक्ति के विकास ने इन विभाजनों को

निर्जीव और स्थिर करने की कोशिश की होती और, सामाजिक व्यवस्था की तरह, भारत का राजनीतिक जीवन भी आशाहीन तथा स्थायी रूप से विभाजित बन गया होता। भारत यूरोप से अधिक बड़े राजनीतिक संघटन के तौर पर विकसित हो रहा था और अंततः इस तरह के विकास में सफल रहा। यह अधिक अद्‌भुत था क्योंकि यूरोप की तुलना में यह धर्म में, सामाजिक विभेद में और यहां तक कि आम संस्कृति में अधिक अनेकता का प्रतिनिधित्व करता था। यह अंतर पश्चिम के अधिक आर्थिक और राजनीतिक आधार की तुलना में शायद भारतीय सभ्यता के अधिक गहरे नैतिक तथा धार्मिक आधार के कारण था।

आदमी की प्रकृति और पर्यावरण इस तरह का है कि एक खास सीमा तक राजनीतिक संघटन सिर्फ युद्धों और आक्रमणों तक ही विकसित हो सकता है। इस तरह सतत्‌ युद्ध भारत की अर्थव्यवस्था का स्वाभाविक हिस्सा बन गए। शूरवीरता राजपूत प्रकृति का हिस्सा थी, लड़ना उनका स्वाभाविक खेल; और एक अखिल भारतीय राजनीतिक प्रभुत्व की इच्छा उनकी परंपराओं से ही प्रेरित नहीं हुई बल्कि उनके धर्म का अंग भी बन गई। महान राजसूय यज्ञ इस लालसा का प्रतीक था और यहां तक कि युधिष्ठिर जैसे धर्मपरायण राजा ने इसे आयोजित कर इसे लगभग पवित्र प्रमाण दे दिया। इसलिए भारतीय समाज में, जैसा कि पूरे विश्व में था, युद्ध के किसी और औचित्य की नहीं बल्कि अखिल भारतीय आधिपत्य की प्राप्ति और अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की इच्छा थी।

हर्ष की मृत्यु के बाद विकास की यह दुखदायी प्रक्रिया जारी रही। राज्य ने राज्य, राजा ने राजा और एक राजवंश ने दूसरे राजवंश के खिलाफ संघर्ष किया। अब कन्नौज ने कश्मीर को फौजी काम के लिए दी हुई जागीर के रूप में उपयोग किया; तो दूसरे मौके पर कश्मीर ने कन्नौज को अधीन कर लिया या बंगाल ने इसके खिलाफ युद्ध किया और इसकी शक्ति नष्ट कर दी। यह फिर खड़ा हो गया और मिहिर भोज के अंतर्गत विशाल शासन का केंद्र हो गया, और फिर, राष्ट्रकूट इंद्र तृतीय की सत्ता के सामने वर्ष 916 में झुक गया। अजमेर राजवंश इसी तरह की कथा दुहराता है। चौहानों, चंदेलों, राठौरों, मालवा के परमारों—सबने किसी पहेली के लिए एक-दूसरे के खिलाफ संघर्ष किया। पांड्यों, चोलों और केरल के चेरों की तरह चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने अपनी-अपनी भागीदारी की। तीन सौ साल तक यह उपद्रव सन 1000 ई. तक जारी रहा। तब उत्तर दिशा से एक राजनीतिक आंदोलन की शुरुआत होती है और राजनीतिक समन्वय तथा सम्मिलन की प्रक्रिया दृढ़ता एवं धीमी गति से होती है और कुछ शताब्दियों के बाद भारत महज एक भौगोलिक पहचान से एक केंद्रीय विशिष्ट शक्ति के साथ राजनीतिक अस्तित्व और बने रहने वाला श्रेष्ठ संघटन तथा उस शक्ति को और मजबूत करने वाला बनता है।

विकास की इस प्रक्रिया में लोगों की अनकही दुर्गति शामिल है। युद्ध मानव संघटनों का क्रूरतम पक्ष है और जिस समय की हम बात करते हैं, इसके नाश की कोई सीमा नहीं है। लेकिन यह तथ्य है कि 1000 ई. से मुसलमान राजाओं ने राजनीतिक समन्वय के इस आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई और इसकी अस्पष्टता को वास्तविक प्रकृति दी।

मध्य युग के जीवन की विशिष्टताएं

धार्मिक पूर्वाग्रह ने इसे गहरा धार्मिक रंग दिया है और इसके दुख और भय को बढ़ा-चढ़ा दिया है। मुसलमान घुसपैठियों और आक्रमणकारियों को उनके युग में भी बहुत अधिक क्रूर और हठधर्मी बनाकर पेश किया गया है। लेकिन इतिहास की तुलनात्मक दृष्टि इस विचार का समर्थन नहीं करती है। वस्तुतः पुरुषों और महिलाओं की दासता, शहरों का नाश और मंदिरों का अपवित्रीकरण और डाकेजनी पूरे मध्य युग में युद्ध की सामान्य घटनाएं थीं। हम उस वक्त की स्थिति बताने के लिए कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे। कवि अनवरी ने गज तुर्कों द्वारा खुरासान के विनाश पर एक शोकगीत लिखा है जिससे हम निम्न उद्धरण देते हैं :

> अब सब स्थिर है, जहां न गुंबद है, न ड्योढ़ी,
> अब निर्दयी शत्रु अपने शासन का ढिंढोरा पीट सकता है,
> क्योंकि खुरासानिया के सभी ढिंढोरची मार डाले गए हैं,
> और इसके सभी धर्मोपदेशक जमींदोज कर दिए गए हैं।[33]

डेनमार्क के आक्रमण के दौरान इंग्लैंड में मठों का विनाश दूसरी उल्लेखनीय घटना है।

"किसी एक संन्यासी को जीवित नहीं छोड़ा गया; पूजा के स्थान उखाड़ फेंके गए; स्मारकों को तहस-नहस कर दिया गया; सुंदर ढंग से रखे गए धर्मपत्रों से संपन्न पुस्तकालय बिखेर दिए गए और तब सब में आग लगा दी गई; जब तक सब कुछ नष्ट नहीं हो गया, उससे पहले एक पखवारे तक यह सब जलता रहा। तब क्रूर अशिष्ट लोग देदीप्यमान चर्चों, लूटे हुए खेतों और अंग-भंग किए हुए शवों को छोड़कर आगे बढ़े जहां उन लोगों ने वैरागिनियों की कुटी पाई और उन पर हृदयविदारक अत्याचार करने के बाद सभी महिलाओं की हत्या कर दी। यह साल-दर-साल देश के विभिन्न भागों में होने वाली कथा थी।"[34]

भारत जैसे सुसंस्कृत देश में युद्ध के समय के दौरान महिलाओं के साथ होने वाली घटनाएं अकल्पनीय थीं।

---

33. "हिस्ट्री आफ पर्शिया", सर पर्सी साइक्स, वोल्यू. I में उद्धृत
34. "द स्टोरी आफ रेलिजन इन इंग्लैंड", पृ. 75

"शत्रुओं के हाथों में चले जाने के बाद कब्जा किए गए किलों और शहरों में महिलाओं के प्रति कोई दया नहीं दिखाई जाती थी।"[35]

"...हमें एक अन्य अमानवीय व्यवहार पर निगाह डालनी होगी जो कवियों के वर्णनों और 'हर्ष चरित्र' में बाण के विवरणों में भी पाए जाते हैं। युद्ध में पराजित और मारे गए राजाओं की विधवाओं की स्थिति विजयी के परिवार में दासत्व वाली होकर रह जाती थी।... लेकिन पराजित राजाओं की विधवा रानियां, नौकरानियां और कई बार बिना विवाह के ही दूसरे पुरुष के साथ रहने वाली महिलाओं वाली हो जाती थी जो हिंदू समाज की सुसंगठित और नैतिक स्थिति की तुलना में आश्चर्यजनक तथा क्रूर लगती है।"[36]

क्रूरता युग की देन थी और व्यक्तियों तथा धर्मों की नहीं। यहां तक कि छठी शताब्दी में फारस का राजा नौशेरवां, जो बहुत विवेकी और मानवीय सम्राट माना जाता है और पारसी धर्म का अनुयायी था, ने अपने अभियानों में अपने युग का प्रतिनिधित्व किया और बदला लेने वाली कार्रवाइयां कीं। सीरिया में उसके अभियान का इस तरह विवरण दिया गया है :

"पूरे सीरिया में आतंक फैलाने के लिए पहले शहर, जिसे उसने कब्जे में लिया, में उसने दयाहीन क्रूरता दिखाई और आगे बढ़ते समय धनी एंटिओक की तरह जाते हुए लूटपाट करता रहा और धन छीनता रहा। एक दशक से भी थोड़े पहले एंटिओक ने कई भूकंप झेले थे, इसकी किलेबंदी टूट गई थी और क्षतिग्रस्त हालत में थी और इसके दुर्गरक्षक इसकी रक्षा के लिए पर्याप्त संख्या में नहीं थे। इस तरह सीरिया की राजधानी अनमोल दौलत के साथ नौशेरवां के लिए आसान शिकार था जिसने अपनी नीति पर चलते हुए खौफ फैलाया, हर उस घर और भवन को तहस-नहस कर दिया जिसने उसे धन नहीं दिया। संयोजन और प्रशासन नहीं, सिर्फ आक्रमण और विनाश हो रहा था।"[37]

अपने राजनीतिक विरोधियों के साथ उसका व्यवहार भी खास तरह का था।

"यह गुप्त योजना सामने आने के बाद नौशेरवां ने निर्दयी कार्रवाई की और उनके सभी बालकों के साथ उसके भाइयों को मार डाला, सिर्फ जेम्स का बेटा, कोबाड़ निकल भागा... मजदक के खिलाफ भी इसी तरह की क्रूर कार्रवाई की गई जो पहले नरसंहार के दौरान भाग निकला था। उसे और उसके हजारों अनुयायियों को मार डाला गया और इस डरावनी क्रूरता के जरिये फिलहाल उस संप्रदाय को नेस्तनाबूद कर दिया गया।"[38]

---

35. "हिस्ट्री आफ मेडीएवल इंडिया", ईश्वरी प्रसाद, पृ. 35
36. वैद्य," हिस्ट्री आफ मेडीएवल हिंदू इंडिया", वोल्यू. II पृ. 96
37. "हिस्ट्री आफ पर्शिया", सर पर्सी साइक्स, वोल्यू. i में पृ. 451
38. वही, पृ. 499, 450

कलिंग के राजा के साथ अपने पहले और एकमात्र युद्ध में लाखों लोगों के मारे जाने के बाद ही अशोक महान को भी राजाधिराज के शासन और राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के महापराध का अनुभव हुआ और वह पश्चाताप से भर गया। इसके बाद ही उसने अपने विशाल साम्राज्य के सभी लोगों के नैतिक तथा भौतिक उन्नयन के लिए अपने आपको, अपने हृदय और आत्मा को, समर्पित किया। युद्धों के दौरान मंदिरों का अपवित्रीकरण, महिलाओं के साथ अत्याचार और असंख्य दास बनाने का काम आम बात थी। जब मूरों को स्पेन से खदेड़ा गया तो देश की हर मस्जिद तोड़ डाली गई और जहां भी मुस्लिमों को हटाकर ईसाइयों ने अपनी सत्ता स्थापित की, इस्लाम के सभी चिह्न मिटा दिए गए। धार्मिक सहिष्णुता की तीव्र भावना, जो आज पाई जाती है, ने तब तक जन्म नहीं लिया था और विभिन्न रूपों में धार्मिक असहिष्णुता मध्य युग की सामान्य बात थी। लेकिन भारत में पहले और मुस्लिम शासन के दौरान भी स्थितियां कई अन्य देशों से बेहतर थीं। निस्संदेह युद्ध की तपिश में कई जंगली चेष्टाएं की गईं। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि मंदिर और मठ आसान शिकार होते थे क्योंकि "कहीं भी अन्यत्र इतने लूट के माल नहीं होते थे और अन्यत्र कहीं भी इन्हें ले जाना इतना आसान नहीं होता था।" यही नहीं, शक्ति का प्रभाव कहीं भी इतनी चमक से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता था जितना आराध्य वस्तुओं को नष्ट कर, जो विजेताओं के विरोधियों के लिए रक्षा के सबब होते थे। यह मध्य युग के भारत में राजसत्ता के अधिकार को प्रदर्शित करने का एक तरीका भी था। इसके तहत विजेता अपने पराजित विरोधी को अपने राज्य की सबसे प्रिय प्रतिमा के आत्मसमर्पण को मजबूर करता था। हर्ष ने कश्मीर के राजा को अपने सबसे पवित्र बौद्ध स्मृति चिह्न देने पर विवश किया तो चंदेल वंश की उसकी नामराशि ने कन्नौज के राजा को अपनी श्रेष्ठ शक्ति के अनुमोदन के तौर पर विष्णु की बहुमूल्य प्रतिमा उसे देने को मजबूर किया। लेकिन भारत में इस तरह की घटनाएं आमतौर पर युद्ध के समय या प्रशासनिक संकट काल के दौरान ही हुईं। और उन दुखपूर्ण अवधि में लोगों ने इस तरह की घटनाओं को आम बात की तरह लिया और जल्द ही उसे क्षमा कर दिया या भूल गए। बड़ी संख्या में ऐसी प्रभावशाली घटनाएं हुईं कि मुस्लिम राजाओं द्वारा नष्ट कर दिए गए मंदिरों के पुनर्निर्माण की अनुमति दी गई और जब शांति स्थापित हो गई तो लोगों को अपने धार्मिक कार्य आमतौर पर करने की स्वतंत्रता दे दी गई।

प्रतिमाओं और मंदिरों के विनाश की कथाएं

हालांकि इन स्थितियों में कई मंदिरों को मुस्लिम राजाओं द्वारा नष्ट किया गया और किया भी गया होगा लेकिन इस तरह के विनाश की कथाएं जो आमतौर

पर प्रचार में हैं बहुत अधिक अतिरंजित हैं। हम इस तथ्य से परिचित हैं कि लगभग दो शताब्दियों के दौरान बौद्ध धर्म के गौरवशाली दिनों में भारत में बने लाखों बौद्ध मंदिर विलुप्त हो गए और उनके अवशेष अब नहीं हैं। श्री वैद्य का कहना है :

"और आश्चर्य है कि गुफाओं के मंदिर और कोई बौद्ध मंदिर यहां नहीं थे; पहाड़ियों के किनारे गढ़कर बनाई गई दीर्घकाय प्रतिमाओं के सिवा, जबकि जब ह्वेन सांग ने भारत का दौरा किया था तो हजारों मंदिर थे। गजनी के महमूद के समय और बाद में भी मुसलमानों ने हजारों मंदिरों को नष्ट किया लेकिन वे सभी साफ तौर पर हिंदू मंदिर थे।"[39]

अगर हम याद करें कि हर्ष ने गायों, घोड़ों और अन्य पशुओं की हत्या वाली 'बलि' को रोक दिया था और इस तरह कट्टर राजकीय परिवारों में कड़ी प्रतिक्रिया पैदा कर दी जो उसकी मौत के बाद "हिंदुत्व और बौद्ध धर्म के बीच झगड़े" का कारण बनी; अगर हम यह भी याद करें कि अपनी उदारता में बौद्धों के प्रति अधिक पक्ष लेने वाला लगने के कारण उसका जीवन लेने का षड्यंत्र करने के लिए सहिष्णु राजा हर्ष को 500 ब्राह्मणों को अपने इलाके से बाहर निर्वासित करना पड़ा; तब हमें इनमें कुछ मंदिरों के नाश के विषय में कुछ संकेत मिल सकते हैं। लेकिन हालांकि महमूद के समय से पहले वस्तुतः सभी बौद्ध मंदिरों का नाश किया जा चुका था और चूंकि बौद्ध धर्म को पूरी तरह दबा दिया गया था, उनके स्थान पर पर नए मंदिरों का निर्माण नहीं किया जा सका; न बौद्ध प्रतिमाएं हिंदू मंदिरों में बर्दाश्त की जाती थीं; अब भी असंख्य बौद्ध प्रतिमाओं के अंग-भंग करने और उनके हाथ, पैर और नाक कटी प्रतिमाओं, जो भारत के हर हिस्से में पाई जाती हैं, के लिए खास तौर पर महमूद, औरंगजेब और आमतौर पर मुसलमानों को दोषी माना जाता है। निश्चित तौर पर ये लोग वैसी प्रतिमाओं की नाक काटने के लिए खोजने नहीं गए होंगे जिन्हें अलग कर दिया होगा और फेंक दिया गया होगा और अगर वे ऐसे ही काम करने के लिए पागल थे तो हमें उन्हें भुला देना चाहिए क्योंकि वे किसी की भावना को चोट पहुंचाए बिना धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे थे। लेकिन इन प्रतिमाओं को यहां-वहां से एकत्र किया गया है और पुराने घावों तथा पीड़ा को बनाए रखने के लिए सार्वजनिक स्थानों और संग्रहालयों में प्रदर्शित किया जाता है। कलकत्ता संग्रहालय में कुछ मूर्तियां प्रदर्शित की गई हैं। जिन पर अरबी लिपि में निंदित करने वाली चीजें खुदी हुई हैं। ये असली नहीं हो सकतीं क्योंकि कोई मुस्लिम हठधर्मी कभी नहीं स्वीकार करेगा जो प्रतिमाओं पर ईश्वर का नाम अपनी वर्णमाला में खोदना अपवित्रता से अपराध करना मानता है। लेकिन इसी तरह का काम ये प्रतिमाएं कर रही हैं क्योंकि इस

39. "मेडीएवल हिंदू इंडिया", वोल्यूम ii, पृ. 248

मामले में हिंदू भी उतना ही अज्ञानी है जितना खुद इसके प्रदर्शक।

प्रतिमा तोड़ने और जबरन धर्म परिवर्तन की ये कथाएं हमारे इतिहास में आमतौर पर बताए गए विचार को रंग देती हैं जिससे पूरा अभियान लगभग आठ शताब्दियों तक फैले हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच लगातार धार्मिक युद्ध जैसा लगता है। यहां तक कि वे लेखक भी जो इसकी राजनीतिक प्रकृति को समझने लगते हैं, इस विषय पर साधारण टिप्पणी कर इसी तरह का भाव छोड़ जाते हैं। इस तरह घटनाओं के वास्तविक स्रोत और राजनीतिक घटनाओं के रचनात्मक झुकाव की दृष्टि खो जाती है तथा गलत परिप्रेक्ष्य बन जाता है जो मिला-जुलाकर विचार को कलंकित करता है। भारतीय जीवन के सभी तथ्य और स्थितियां जो इस विचार के विरुद्ध हैं, अस्पष्ट रूप से उच्चारित होती हैं। मुस्लिम लेखक मुस्लिम राजाओं के अपने शासन में मूर्तिपूजा जारी रहने की अनुमति देने और परधर्मियों की उन्नति की इच्छा पर शोक करते हैं जबकि हिंदू लेखक हिंदू राजाओं में धार्मिक भावनाओं की कमजोरी और अपने धर्म तथा अपने देश की रक्षा में विदेशी के खिलाफ प्रभावी ढंग से एकजुटता में कमजोरी पर शोक प्रकट करते हैं।

हमने पहले अध्याय में देखा है कि कैसे भारत के हर राज्य में वस्तुतः मुस्लिम उपनिवेश थे। हालांकि मुसलमानों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई, तब भी मुगल शासन के समय तक हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों की औसत संख्या काफी कम रही होगी। इस पूरी अवधि के दौरान प्रशासन के निचले स्तर का सारा काम, कई उच्च पद, कई राज्य और शासन और सबसे ऊपर महाराजाधिराज की सेना का अधिक हिस्सा निश्चित तौर पर हिंदू संप्रदाय के सदस्यों के हाथों में होगा। यही नहीं, यह धार्मिक युग था और हिंदू तथा मुसलमान—दोनों धार्मिक मिजाज के थे। इन स्थितियों में किसी धार्मिक धर्मयोद्धा के लिए एक हजार साल तक लगातार टिकना निश्चित ही असंभव था। धार्मिक युद्ध किसी निश्चित स्थान तक वास्तविक रूप से लड़ते रहना संभव नहीं होता है। यह स्वाभाविक तौर पर सभी केंद्रों में फैल जाता है जहां विरोधी शक्तियां रहती हैं और इसकी महज राजाओं के युद्धों में ही अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि देश के हर कोने में बढ़कर आम गृह युद्ध की प्रकृति ले लेता है। लेकिन मुस्लिम काल के दौरान इस तरह की घटना या कहीं दूर तक भी इस तरह की मिलती-जुलती स्थिति नहीं मिलती। इस पूरी अवधि के दौरान कई प्रभावशाली अभियानों में हिंदू राजाओं ने अपने सहयोगी के तौर पर मुस्लिम राजाओं के पक्ष में युद्ध किए। पराजित राज्यों, चाहे वह मुस्लिम रहा या हिंदू, को सिर्फ राजभक्ति के आश्वासन पर उनका राजपाट आमतौर पर लौटा दिया गया। दुनिया के किसी भी धार्मिक युद्ध में दो परस्पर विरोधी धर्मों वाले सैनिकों ने दोनों पक्षों की ओर से समान रूप से युद्ध नहीं किया है। भारत में लगभग सभी मुख्य युद्धों में हिंदू और मुस्लिम सैनिकों ने

अपने धर्म को परे रखकर अपने राजाओं के लिए साथ-साथ युद्ध किया है। एक छोटा संदेह कि उन्हें दिए जाने वाले सामान से उनके धर्म को दूषित किया जा रहा है, विस्फोट का तात्कालिक कारण बन गया जिसने 1857 में जमे-जमाये ब्रिटिश शासन की नींव हिला दी। क्या यह बात यकीन करने की है कि हिंदुओं की धार्मिक भावना का जान-बूझकर, आराम से और लगातार तिरस्कार शताब्दियों तक लोगों के आम प्रत्यक्ष विद्रोह के किसी चिह्न के बिना करने की अनुमति दी जा सकती थी? यह सब दिखाता है कि इन लेखकों के एकपक्षीय सोच ने धार्मिक प्रवृत्ति को गलत ढंग से दर्शाया है और विशिष्ट राजनीतिक अभियानों और घटनाओं को गहरा धार्मिक रंग दिया है।

"किसी उपद्रव को दबाने में या किसी किले पर कब्जा करने, शहरों और जिलों में आग लगाए जाने, पूरे जिले को नष्ट कर दिए जाने, मंदिरों को नष्ट करने और प्रतिमाओं को फेंकने, 'गलत चीजों पर यकीन करने वालों को नरक में भेज दिया गया' या 'उन्हें उनकी जगह भेज दिया गया' की बातें, हजारों महिलाओं और बच्चों को दास बनाए जाने से संबंधित मुस्लिम इतिहासकारों के महाकाव्यों के वर्णन में यह विश्वास दिलाने के लिए भ्रमित कर सकते हैं कि उत्तर भारत का शुरुआती मुस्लिम कब्जा मूर्तिपूजा के नाश और इस्लाम के विकास के लिए लड़ा गया धर्म युद्ध था जबकि यह इस तथ्य का प्रमाण नहीं है कि ऐसा ही हुआ था। मूर्ति तोड़ने वाले महमूद के पास हिंदू घुड़सवारों की बड़ी पलटन थी; उसके बेटे मसूद ने अपने मुस्लिम अधिकारियों पर अपने हिंदू साथियों की धार्मिक भावनाओं पर आक्रमण पर रोक लगा रखी थी; मुस्लिम अहमद नियल्तिजीन के विद्रोहियों पर नियंत्रण के लिए हिंदू तिलक की नियुक्ति की; मुस्लिमों के अंग-भंग करने के तिलक के निर्णय की अनुशंसा की और उसे मुस्लिम कुलीनों के बराबर का पद दिया; मुइजुद-दीन मुहम्मद ने लाहौर के मुस्लिम खुसरावा मलिक के खिलाफ जम्मू के हिंदू राजा का साथ दिया और अपनी मुद्रा ढलाई में हिंदू पौराणिक चरित्रों को शामिल किया; महमूद के बाद से भारत में सभी मुस्लिम शासकों ने, जब उन्हें ठीक लगा, हिंदू शासकों और भूपतियों की राजभक्ति स्वीकार की तथा उन्हें उनकी पैतृक भूमि के साथ अपनी प्रजा के रूप में स्वीकृति दी; और चौदहवीं शताब्दी के अंत में भारत में तैमूर के आक्रमण का बहाना हिंदू धर्म के प्रति सहिष्णुता थी।"[40]

इस काल को समझने में होने वाली कठिनाई

इस काल को समझने में होने वाली मुख्य कठिनाई इस तथ्य से होती है कि हिंदू पक्ष में इसका एकमात्र प्रमाण वे गीत हैं जिनकी रचना भाटों और कवियों ने

40. "द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया", वोल्यूम iii

की है जो महाभारत को अपने माडल के तौर पर लेते हैं और ऐतिहासिक तथ्य या सटीकता की तुलना में साहित्यिक तथा काव्यात्मक आवश्यकताओं को अपने कथ्य के बारे में सोचने और विकसित करने देते हैं। अन्य स्रोत फारसी कथा लेखक हैं जो हालांकि गद्य में लिखते हैं लेकिन अपने समय की आलंकारिक शैली में बह गए हैं और उन लोगों ने पहले मुजाहिदीनों की प्राचीन कथाओं को अपना माडल चुना है। ये कथा लेखक आमतौर पर उलेमा हैं जो स्वाभाविक तौर पर अपने धर्म को ऊंचे पद पर बिठाते हैं। इस तरह उनका राजनीतिक प्रभाव हर बिंदु पर अधिक बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया है और उनका धार्मिक पूर्वाग्रह हर राजनीतिक घटना को गहरा धार्मिक रंग देता है। इन लेखकों के लिए शत्रु की शक्ति समुद्र के बालू जितनी विशाल रहती है, राजा द्वारा लूट के माल के रूप में अर्जित मोती महासागर के विशाल भीतरी भाग से भी ज्यादा होते हैं और हीरे इतनी संख्या में कि छितरा दिए जाएं तो वे पूरी दुनिया को नभमंडल के तारों की तरह प्रकाशयुक्त कर देंगे। और हर सफल अभियान इसी तरह की संपत्तियां लाता है। जबकि लाभ जितना विलक्षण है, अभागे शत्रु द्वारा भोगे जाने वाला घाटा भी उतना ही बड़ा है। धर्मनिंदकों की पूरी जमात नरक में भेजी जाती है, हजारों मंदिरों को जमींदोज किया जाता है और हर महत्वपूर्ण युद्ध के बाद दुनिया मूर्तिपूजा के हर अवशेष से शुद्ध कर दी जाती है। काल की पारंपरिक शैली की आदत में इतना बल था कि यहां तक कि फारसी भाषा में लिखने वाले हिंदू इतिहासकारों ने भी अपने सहधर्मियों के लिए काफिर बा जहन्नम रफ्त (धर्मनिंदक नरक में गए) जैसी अभिव्यक्तियों का उपयोग किया है। इस तरह के बयानों को गलत समझना या उन्हें गंभीरता से लेना असंभव हो सकता है लेकिन एक गंभीर समस्या इस तथ्य के कारण उन्हें उनका उचित मूल्य देते हुए आंकने में होती है कि हम जो इतिहास पढ़ते हैं, वह ऐसे लोगों के स्रोतों से एकत्र किया गया है जो विभिन्न कारणों से ऐसे कूड़ा-करकट और आसपास के तथ्यों को दबाकर प्रमुखता देने में रुचि रखते हैं जिनका उचित ढंग से आकलन नहीं किया जा सकता।

ये कथा लेखक अपने राजाओं को मूर्ति तोड़क और अपने धर्म का विस्तार प्रस्तुत कर उन्हें धर्मनिष्ठ साबित करना मानते हैं। मूर्ति तोड़ने वालों की सूची में महमूद गजनवी का नाम सबसे ऊपर है, संभवतः इसलिए कि भारत में उसके अभियानों के बारे में उसके अपने लेखक उत्बी ने वर्णन किया है। संभवतः उत्बी अपने स्वामी की अपने उन समकालीनों के आक्रमणों से रक्षा करना चाहता था जिन्होंने काफिर के तौर पर उसकी आलोचना की। महमूद की चढ़ाई धर्मयुद्ध की प्रकृति की नहीं थी, यह तथ्य कई भारतीय इतिहासकारों—हिंदू और मुसलमान, दोनों—ने स्वीकार किया है। वस्तुतः, उसके चरित्र का आकलन, जो हमें इतिहास

में आमतौर पर मिलता है, बताता है कि उसके बारे में कही गई उच्छृंखलता कुछ अतिरंजित और कुछ उस युग से संबंधित है जिसमें वह हुआ था। हम हिंदू इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत उसके चरित्र के दो आकलनों को नीचे दे रहे हैं। और हम उसकी शैली तथा उसके कार्य के बारे में फारसी कथा लेखकों के कुछ उदाहरण भी देते हैं जो उनकी अतिरंजनाओं से जोड़े जाने चाहिए।

गजनवी

श्री वैद्य महमूद के चरित्र के अपने आकलन को इस तरह समेटते हैं :

"बहरहाल, हम सोचते हैं कि गिब्बन सही है जब वह कहते हैं कि महमूद संसार के महानतम राजाओं में से एक है। वह शूरवीर योद्धा और कुशल सेनापति, न्यायप्रिय और विद्वान लोगों का संरक्षक और विशिष्ट गुण वाला था जिसने अपने लोगों की शांति तथा प्रगति के लिए श्रम किया और शिक्षा एवं व्यापार के विस्तार का प्रयत्न किया। एक व्यक्ति के तौर पर महमूद कड़े अनुशासन वाला था और प्रकृति से क्रूर या लालची नहीं था बल्कि संयमित एवं सुशील था। वह बहुत धार्मिक और अपने धर्म के प्रति कट्टर था। उसके चरित्र का बड़ा और संभवतः एकमात्र दूषित पक्ष, हमारे विचार के अनुसार, उसकी कट्टर धार्मिक असहिष्णुता थी।"[41]

डा. ईश्वरी प्रसाद एक कदम आगे जाते हैं क्योंकि वह उसे अधिक धार्मिक उत्साह के आरोप से भी मुक्त करते हैं।

"इतिहास में महमूद के स्थान को निश्चित करना मुश्किल नहीं है। पहले की टिप्पणियों ने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि वह किस महान व्यक्तित्व का था। उसके समय के मुसलमानों के लिए वह गाजी, धर्मयोद्धा था जिसने मूर्तिपूजक भूमि में धर्मनिंदा को जड़ से उखाड़ने की कोशिश की। हिंदुओं के लिए वह आज तक एक अमानवीय निष्ठुर शासक, यथार्थ हूण था जिसने उनके सबसे पवित्र धर्मस्थानों को नष्ट किया और उनकी धार्मिक भावनाओं को अपनी इच्छा के अनुरूप कुचला। लेकिन पूर्वाग्रहहीन परीक्षक जो उस युग की विशिष्ट परिस्थितियों को अपने दिमाग में रखता है, एक भिन्न निष्कर्ष देगा। उसके आकलन में महमूद लोगों का महान नेतृत्वकर्ता, अपनी शोभा के अनुरूप ठीक और धार्मिक शासक, शूरवीर और गुणी योद्धा, न्यायप्रिय, विद्वता का संरक्षक था और दुनिया के महानतम राजाओं के बीच रखे जाने योग्य है।"[42]

गोरी

गजनियों के बाद गोरी आते हैं। उनका पहला पराक्रम गजनी के शहर का विनाश

---

41. "मेडीएवल हिंदू इंडिया", सी.वी. वैद्य, वोल्यूम III, पृ. 104
42. "हिस्ट्री आफ मेडीएवल इंडिया", डा. ईश्वरी प्रसाद, पृ. 91

था जिसे महमूद ने दुनिया के सबसे खूबसूरत शहरों में से एक के रूप में परिवर्तित किया था।

"अल-उद-दीन ने उसके बाद विजय प्राप्त की और गजनी के शहर को तहस-नहस कर दिया। शहर के सबसे सुंदर भवन, महमूद की महानता और महत्व वाले उत्कृष्ट स्मारकों को नष्ट कर दिया गया और सात दिनों के दौरान गोरी के सेनापति शहर पर कब्जा जमाए रहे; 'धुएं के कालेपन से हवा उतनी काली रही जैसे रात'; और जलते शहर से उठने वाली लपटों से उन रातों में भी उतना ही उजाला था, मानो दिन हो। लूट और नरसंहार काफी हठ और बदला लेने वाले तरीके से किए गए और पुरुषों, महिलाओं और बच्चों की या तो हत्या कर दी गई या उन्हें दास बना लिया गया। महमूद और इब्राहिम को छोड़कर गजनी के सभी सुल्तानों के शवों को उनकी कब्रों से खोदकर निकाला गया और उनका अनादर किया गया तथा उन्हें जला दिया गया।[43]

इसके बाद गोरी ने भारत की तरफ ध्यान दिया। शहाबुद्दीन गोरी की विजयों को फारसी कथा लेखकों ने इस तरह गौरवान्वित किया है :

अजमेर में : "तुमने भले ही कहा हो कि समुद्रों और पर्वतों के गोपनीय संग्रह स्थान ढूंढ़ निकाले गए। जब सुल्तान अजमेर में रहे, उन्होंने मूर्तियों वाले मंदिरों को तुड़वा डाला और उनकी जगह मस्जिदों और कालेजों का निर्माण करवाया।"

कन्नौज में, "उस भूमि से मूर्तिपूजा की मलिनता शुद्ध की गई और लूट का बहुत सारा माल पाया गया इतना कि उसे देखते-देखते आंखें थक जाएं।"

बनारस में : "शाही सेना बनारस की ओर बढ़ी और वहां एक हजार मंदिर नष्ट कर दिए गए और उनकी नींव पर मस्जिदें खड़ी कर दी गईं तथा दीनारों एवं मुहरों पर राजा के भाग्यशाली नाम और पद सुशोभित किए गए।"

लेकिन जब उन इतिहासकारों द्वारा वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया गया जिन्हें किसी भी तरह मुसलमानों का पक्षपाती नहीं कहा जा सकता तो शहाबुद्दीन का यह आकलन सामने आया :

"यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि शहाबुद्दीन और उसका मुसलमानों को उकसाने वाला धार्मिक उत्साह राजपूतों के उकसावे से ज्यादा था। हालांकि मुसलमान इतिहासकार शहाबुद्दीन को धार्मिक युद्ध लड़ने वाला बताते हैं, वह क्षेत्र पर बलपूर्वक विजय के लिए लड़ रहा था और धर्म के विस्तार के लिए नहीं। वस्तुतः, हम पाते हैं कि इस्लाम में लोगों का परिवर्तन उत्तर भारत पर विजय में उसका उद्देश्य नहीं था।"[44]

43. वही, पृ. 110, 111

44. वैद्य,"मेडिएवल हिंदू इंडिया", वोल्यूम iii, पृ. 361

शहाबुद्दीन के बाद कुतुबुद्दीन और इल्तुमिश के अभियानों का उसी स्वर में वर्णन किया जाता है। लेकिन जब हम अतिशयोक्तिपूर्ण बातों को काटते-छांटते हैं तो हम पाते हैं कि–

"कुतुबुद्दीन और इल्तुमिश झक्की मुसलमान नहीं थे और बुद्धिमान शासक थे जिन्होंने, ब्रिटिश की तरह, न्याय का पक्ष लिया और उनमें लोगों के धर्म के साथ दखलंदाजी न करने का विवेक था।"[45]

यह सब जगह ऐसा ही है। वस्तुतः, जैसा कि सभी अन्य देशों में है, वैसा ही मुस्लिम भारत में भी था, उलेमाओं का हठधर्मी वर्ग था "जो, हालांकि इस्लाम में इस्लामी पूजा पद्धति थी, कुरआन की व्याख्या के अधिकार और इसलिए शासन की नीति के निर्देश का दावा करते थे।" और चूंकि सभी धर्मों के पुजारी प्रकृति में एक समान होते हैं, हठधर्मी वर्ग का प्रभाव आमतौर पर प्रतिक्रियावादी था। लेकिन भारत में स्थितियां ऐसी थीं कि बिल्कुल शुरुआत से ही इस वर्ग के लोग सम्राट के सबसे बड़े खतरे के स्रोत थे और इस तरह राजा शासन की बड़ी नीतियों में उनकी सलाह नहीं सुन सकते थे और इसलिए यहां तक कि धार्मिक रूप से झुके हुए शासकों पर भी इनका प्रभाव बहुत कम सीमाओं तथा गैर जरूरी विवरणों तक था। लेकिन शासन की नीति और प्रशासन के मामलों में बहुत कम अधिकार के बावजूद शासन के ऐतिहासिक एवं अन्य संकलनों में उनकी और उनके अनुयायियों की कट्टर धार्मिकता को फूटने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। राजाओं और अन्य उच्च पदाधिकारियों ने सीधी चाटुकारिता के इस रूप पर आपत्ति नहीं की क्योंकि पहले तो, यह बिल्कुल पारंपरिक था और इसे गलत नहीं समझा जा सकता था और अगली बात कि उनके शासन को किसी तरह खतरा पहुंचाए और असुविधाजनक प्रशासनिक दुरूहताएं पैदा किए बिना विश्वस्तों की नजर में उन्हें धार्मिक प्रतिष्ठा देती थी।

यही कारण है कि हमारे इतिहास के पृष्ठ दूषित मंदिरों और टूटी मूर्तियों की कहानियों से भरे हैं और लगभग हर मुस्लिम राजा को इस तरह की उपलब्धियों वाला अच्छा हिस्सा दिया गया है। लेकिन अब तक इस खोज की कोई ईमानदार कोशिश नहीं की गई है कि कितने हिंदू मंदिरों का मुस्लिम शासकों द्वारा निर्माण किया गया और उनमें से कितने को शाही उपहार और अनुदान मिले। जब इस तरह के शोध होंगे, यह पाया जाएगा कि औरंगजेब जैसे राजा ने भी उससे अधिक मंदिरों को उपहार दिए जितने उसके द्वारा नष्ट किए जाने का विश्वासपूर्वक आरोप लगाया जाता है।

---

45. वही,

विवशतापूर्ण सामाजिक दबाव

वस्तुतः, भारत में परिस्थितियां ऐसी थीं कि मुस्लिम शासक भले ही संकीर्ण हठधर्मी हो, ये उन्हें धार्मिक उपद्रव या थोक में धर्म परिवर्तन कराने में स्वतंत्र रूप में शामिल होने की अनुमति नहीं देती थीं। यहां कोई ऐसा राजा नहीं था जिसने अच्छी खासी संख्या में अपने यहां मुस्लिम सैनिक न रखे हों और भारत में हर मुस्लिम राजा ने सेना में स्थापित परंपरा और व्यवहार के अनुसार अपने शासन के अंतर्गत वाले क्षेत्रों से बड़ी संख्या में हिंदू सैनिक निश्चित रूप से रखे थे। अगर हम 8वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक के मुस्लिम काल या यहां तक कि भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना तक के युद्धों का विश्लेषण करते हैं तो हम पाते हैं कि मुस्लिम और मुस्लिम तथा हिंदू और हिंदू के बीच उतनी ही संख्या में युद्ध लड़े गए जितने हिंदू और मुस्लिम राजाओं के बीच। हिंदुओं और मुसलमानों—दोनों में धार्मिक उद्देश्य से अधिक राजनीतिक उद्देश्य के अलावा अधिक स्पष्ट कुछ नहीं दिखता और मुस्लिम राजाओं का उनके हिंदू सहयोगियों और साथियों पर पूर्ण निर्भरता की बात के अलावा और कुछ नहीं दिखता। यह विवशतापूर्ण सामाजिक दबाव ही था जिसने जंगली हठधर्मिता पर नियंत्रण किया होगा या बहुत अधिक बढ़ने से पहले जिसने इसे नष्ट किया होगा। और यही बात थी जिसने उनकी नैतिक और धार्मिक संस्कृतियों के साथ हिंदू और मुस्लिम शासन को धार्मिक मामलों में सभ्य सहिष्णुता अपनाने को प्रेरित किया जो नैतिक बुद्धि से सबसे सुरक्षित और सर्वोत्तम नीति थी।

भारत की भौगोलिक सीमाएं

न सिर्फ उत्तर से इस राजनीतिक आंदोलन को धार्मिक युद्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया है बल्कि इसे विदेशी आक्रमण के तौर पर भी गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है और इसे इसी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि यहां तक कि अंग्रेजों को, 6,000 मील दूर से आने वाले विदेशियों को भी अपने इतिहास में विदेशी शासन से भारत को मुक्त कराने वाले और विदेशियों के उत्तरी आक्रमण से सुरक्षा देने वाले के रूप में बताया जाता है हालांकि अगर इस नादिरशाह और अहमदशाह के गुजरने को छोड़ दें तो पंजाब से दिल्ली को राजनीतिक शक्ति के केंद्र के हस्तांतरण के बाद मुगल राजा के अवसान तक अफगान सीमा से या उसके जरिये कोई आक्रमणकारी भारत नहीं आया और कुछ घटनाओं के अलावा यह पूरा क्षेत्र भारत और भारतीय सम्राटों का अभिन्न अंग रहा। अफगानिस्तान से या उसके जरिये होने वाले सफल आक्रमण जो लगभग 800 साल के दौरान हुए थे, बड़े मध्य एशियाई अभियानों का प्रतिनिधित्व करते थे जिसने एशिया, मध्य पूर्व और अन्य आसपास के देशों में काफी प्रतिरोध पैदा

किए। ये अभियान अब समाप्त हो गए हैं क्योंकि मध्य एशिया क्षेत्रों की पूरी प्रकृति और उनकी समस्याएं बिल्कुल बदल गई हैं और न कि ब्रिटिश राज में किसी विशेष सुरक्षात्मक सामर्थ्य के कारण। धन जो ब्रिटिश काल के दौरान सीमांत आदिवासियों को दबाने के प्रयास और अफगानों पर नियंत्रण में खर्च किया जा रहा है, उससे अधिक संपूर्ण भारत में राजनीतिक स्थितियों को अधीन तथा स्थिर करने के प्रयास में इतनी ही संख्या वाले वर्षों के दौरान किसी मुस्लिम राजा द्वारा खर्च किया जाता। और अफगानिस्तान को, हालांकि यह एक प्रशांत प्रदेश था, नियंत्रित करने के लिए नियुक्त किये जाने वाला कोई भी राज्यपाल—चाहे वह हिंदू होता या मुसलमान, इसे बहुत झमेले के बिना और शाही राजस्व से किसी विशेष खर्च के बिना किसी अन्य प्रांत की तरह सहने योग्य नियंत्रण में रखता।

तब भी इस सबके बावजूद धार्मिक पूर्वाग्रह और निहित स्वार्थों ने यह धारणा उत्पन्न की है कि उत्तर से जितने आक्रमण हुए जो 11वीं शताब्दी में महमूद से शुरू हुए, वे सभी विदेशी थे। इस्लाम बाहर से आया, इस बात ने हिंदू के लिए हर मुसलमान को विदेशी बना दिया, हालांकि हिंदू को खुद बताया जाता है कि वह आर्य आक्रमणकारियों का वंशज है जो भारत में विदेश से आए। एक लगातार और इस प्रभावपूर्ण और आश्वस्तिपूर्ण भाव से यह बात दुहराई जाती है कि उत्तरी लोग विदेशी थे कि इसने पूरे देश पर मोह जैसा प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता पा ली है। और मुसलमान भी अपने को वस्तुतः विदेशी और विजेता मानना आरंभ कर चुके हैं। फिर भी स्पष्ट तथ्य यह है कि मुस्लिम आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा शुद्ध भारतीय जाति का है और पूरे मुस्लिम काल के दौरान अन्य देशों से आए कुछ लाख लोग स्वदेशी आबादी में पूरी तरह विलोपित हो गए हैं।

वस्तुतः, गजनी और गोरी भी अपने खून और संस्कृति में किसी दक्षिण क्षेत्र में होने वाले भारतीय के समान हैं क्योंकि अफगानिस्तान और पश्चिम के उसके पड़ोसी क्षेत्र प्राचीन काल से ब्रिटिश काल तक भारत के अभिन्न अंग माने जाते थे और उसकी संस्कृति की पालकी समझे जाते थे।

"यह स्पष्ट है कि 10वीं शताब्दी से पहले हेल्मंड से पूर्व पूरा देश हिंदुस्तान था। यहां तक कि याकूब-ए-इलियास से भिड़ने वाला गजनी भी भारत में था और काबुल तथा कंधार भी जो राजपूतों के देश में था (अल मसूदी 953 ई.)। जब गजनी राज्यवंश की स्थापना की गई, यह पूर्व, दक्षिण, उत्तर और यहां तक कि पश्चिम में भी हिंदुस्तान से घिरा था। यह देश हिंदुस्तान कहा जाता था, यहां के लोग हिंदू।"[46]

---

46. वैद्य, "मेडीएवल हिंदू इंडिया"

भले ही यह आश्चर्यजनक लगे, इस क्षेत्र के लोगों के धर्म परिवर्तन ने न सिर्फ उन्हें विदेशी बना दिया बल्कि शुद्ध हिंदुस्तान को विदेश बना दिया। ऐसे इलाके अलग-थलग कर दिए गए जिसने भारत को उसका धर्म और उसकी संस्कृति दी थी।

"पंजाब निस्संदेह अति प्राचीन काल से वैदिक आर्यों का निवास था; ऐसा स्थान जहां वेद की अधिकांश ऋचाओं की रचना की गई और उनका गान किया गया; ऐसा स्थान जहां बाद में वैदिक संस्कृति का विकास हुआ। कंधार और मद्र व्याकरण और दर्शन के गुरु पाणिनी तथा अरबपति की भूमि हैं। उपनिषदों में सिंधु के पश्चिम और पूर्व के इन प्रसिद्ध क्षेत्रों के ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के कई संदर्भ हैं। लेकिन 'पांच नदियों और छठे सिंधु की भूमि' बाद में बौद्ध धर्म का निवास हो गया जिसका स्थान मगध के ठीक बाद था। बुद्ध ने अफगानिस्तान और पंजाब में स्वयं सफलतापूर्वक उपदेश दिए और बाद में महायान बौद्ध धर्म का इस भूमि में कनिष्क के अंतर्गत जन्म हुआ। वैदिक प्रसिद्धि के दो स्थान–पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) और तक्षशिला बौद्ध ज्ञान के केंद्र बन गए। हालांकि पंजाब मूल रूप से भारतीय आर्यों का निवास था (बल्कि अब भी यह प्रधान रूप से भारतीय आर्य है जैसा कि सर एच. रिस्ले ने 1901 की जनगणना में चेहरे की पहचान से पाया), यह शेष भारत की तुलना में कम हिंदू भावना वाला क्षेत्र था।"[47]

यह आंदोलन ऐसी भूमि से आरंभ हुआ जहां वैदिक ऋचाएं अधिकांशतः रची गईं और जिसने भारत को भाषा और दर्शन दिया जिस पर उसकी बाद की संस्कृति की नींव रखी गई। भारतीय इतिहास के हर काल में इन क्षेत्रों ने उसके जीवन में आत्मीय हिस्से की भूमिका निभाई और हम जिस अवधि पर विचार कर रहे हैं, उसमें ऊपर जिन शहरों का उल्लेख किया गया है, वे पंजाब प्रांत के हिस्से थे जिसकी पुरानी राजधानी काबुल थी। अलाप्तिगीन ने अपने गजनी राजवंश को इस प्रांत को काटकर ही बनाया था। बाद में, महमूद गजनवी के शासन से भी पहले पंजाब के राजा और अलाप्तिगीन के बीच शत्रुता की शुरुआत हो गई थी तथा जब महमूद आ गया तो राजा ने इन इलाकों को पुनः प्राप्त करने की एक अन्य कोशिश की। यह शत्रुता की शुरुआत थी जिसने भारत के इतिहास में इस तरह के गहन परिणाम लाए।

महमूद के समय तक इन क्षेत्रों के लोग मुख्य रूप से हिंदू थे। सन् 1000 ई. में इस्लाम इन इलाकों में धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा था।

"अफगानिस्तान के अधिक महत्वपूर्ण शहरों में निस्संदेह मुसलमान रहते

---

47. वैद्य,"मेडीएवल हिंदू इंडिया"

थे लेकिन खुद अफगानों ने तब तक इस्लाम अंगीकार नहीं किया था। हालांकि काबुल के एक राजा ने करीब तीसरी हिजरी में अर्थात् गजनवियों से लगभग एक शताब्दी पहले इस्लाम स्वीकार कर लिया था, फिर भी अधिकांश अफगान जनजातियों ने महमूद के दिनों में ही इस्लाम को स्वीकार करना आरंभ किया।"[48]

संघर्ष की वास्तविक प्रकृति

इस तरह हम देखते हैं कि इस राजनीतिक आंदोलन में शामिल रस्साकशी विदेशी घुसपैठ की प्रकृति की नहीं है। यह भारत को उसकी राजनीतिक एकता देने के लिए उसी राजपूत संघर्ष का जारी क्रम था। भारत के हिंदुओं और मुसलमानों—दोनों ने इस संघर्ष में उसी तरीके से और उसी हद तक भाग लिया जिस तरह शैवों, वैष्णवों, जैनियों, बौद्धों आदि ने प्राचीन काल में इस तरह के आंदोलनों में हिस्सा लिया। इस संघर्ष में मुसलमान प्रबल रहे, इसकी मुख्य वजह यह थी कि उनके नए धर्म ने उन्हें अधिक एकता लाने वाली और अधिक विस्तृत आधार वाली सामाजिक व्यवस्था दी। यह वास्तविक सामाजिक घनिष्ठता की इच्छा थी जिसने हिंदू भारत में काफी कठिन वास्तविक तथा दूरगामी राजनीतिक घनिष्ठता का विकास किया था। मुस्लिम सामाजिक घनिष्ठता ने इस बुराई को कुछ हद तक दूर किया और इस हद तक अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक विकास को संभव बनाया। जहां तक निर्माण के वास्तविक कार्य का प्रश्न था, यह हिंदुओं तथा मुसलमानों के आपसी सहयोग से हुआ जिसने इस पूरी अवधि में उनमें बहुत धार्मिक उन्माद या हठ लाए बिना उनके देश की आर्थिक एवं राजनीतिक चिंताओं को दूर किया। लेकिन इस प्रकृति का कोई आंदोलन, खासतौर पर उस समय में जिस पर हम विचार कर रहे हैं, इस तरह के चिह्न प्रदर्शित किए बिना पूरी तरह काम नहीं कर सकता था। धार्मिक असहिष्णुता तथा उपद्रव मानवीय इतिहास की न भुलाए जाने वाली विरासत है और उनकी अपने समय के जीवन और गतिविधियों में अपनी सामान्य भागीदारी है। न तो भारत अब युद्ध की क्रूरता और लूटपाट से पूरी तरह मुक्त रह सकता था जैसे वह पहले था। लेकिन तुलनात्मक इतिहास का अध्ययन बताता है कि 11वीं से 15वीं शताब्दी तक भारत ने तुलनात्मक रूप से शांत समय गुजारा और इन दोनों मामलों में दुनिया के अधिकांश दूसरे हिस्सों की तुलना में बेहतर किया। उदाहरण के तौर पर फारस और मध्य पूर्व के अन्य इस्लामी देशों की घटनाओं को लें।

622 ई. में इस्लाम के जन्म के साथ शुरू हुआ राजनीतिक अभियान दक्षिण से उत्तर की तरफ जाते हुए लगभग चीन के सीमा प्रांतों तक पहुंच गया। लेकिन

---

48. "अरब और हिंद के ताल्लुकात", पृ. 205

11वीं शताब्दी से एक विपरीत धारा बही जिसमें सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन के वस्तुतः सभी केंद्रों का लोप हो गया जब अरब विजय अस्तित्व में आई। निस्संदेह, अरब एक धार्मिक विश्व केंद्र बना रहा और सामाजिक तथा धार्मिक अभियान के तौर पर इस्लाम का फैलना जारी रहा लेकिन इस अवधि के दौरान राजनीतिक शक्ति के तौर पर इसके जीवन के सभी अवशेष नष्ट हो गए; और इससे पहले विदेशी दासता न स्वीकार करने वाला अरब तुर्की शासन के अधीन आ गया। इस अंतिम बड़ी विपत्ति से भी पहले इसके राजनीतिक जीवन का बहुत क्षय हुआ। हमने ऊपर जिसका उल्लेख किया है, उस अभियान की, तुर्कों और मंगोलों तथा मध्य एशिया के अन्य संघों की सभी शाखाओं के बीच, यहां खोज नहीं कर सकते जिसने इसमें भाग लिया और फारस तथा मध्य पूर्व के मुस्लिम राजवंशों के विनाश को लपेट लिया। हम सिर्फ एक उदाहरण देंगे जो मुगल आक्रमण के बारे में है जिसका आर्नल्ड ने इस तरह वर्णन किया है।

"इस्लाम के इतिहास में कोई घटना नहीं है जिसकी मुगल आक्रमण के दौरान आतंक तथा विनाश से तुलना की जा सके। जिस तरह बर्फ, मिट्टी आदि के ढेर पहाड़ से खिसककर नीचे आते हैं, जिंगिज खान की सेना ने मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता के केंद्रों को तहस-नहस कर दिया और अपने पीछे नंगे रेगिस्तान और आकारहीन अवशेष छोड़े जहां पहले वैभवयुक्त शहरों के महल, बागों और फलदायी कृषि भूमि थी। जब मंगोल सेना हेरात शहर से बाहर निकली, अपने छिपने के स्थानों से रेंगकर बचे हुए चालीस लोग बाहर निकले और अपने खूबसूरत शहर के अवशेषों पर आतंकभरी टकटकी लगा दी–1,00,000 की आबादी में इतने ही लोग बचे थे। धर्मनिष्ठ और ज्ञानवान लोगों के लिए प्रसिद्ध बुखारा में मंगोलों ने मस्जिदों की पवित्र सीमाओं में अस्तबल बना दिए और कुरआनों को फाड़कर कूड़ा बना दिया; जिन लोगों की हत्या नहीं की गई, उन निवासियों को बंदी बना लिया गया और उनके शहर को राख बना दिया गया। समरकंद, बल्ख और मध्य एशिया के कई अन्य शहरों के साथ भी ऐसा ही हुआ जिनका इस्लामी सभ्यता और पवित्र लोगों के निवास स्थान तथा गहन ज्ञान की पीठों के तौर पर गौरव था। बगदाद के साथ भी ऐसा हुआ जो शताब्दियों से अब्बासीद राजवंश की राजधानी था।"[49]

बगदाद की लूटपाट एक हफ्ते तक चली जिस दौरान वहां रहने वाले करीब दस लाख लोगों की हत्या कर दी गई। मुस्लिम सभ्यता पर इस आक्रमण के प्रभाव को सर पर्सी साइक्स ने इस तरह समेटा है :

"मुस्लिम सभ्यता का उस वक्त दुनिया में उज्ज्वल प्रकाश था और यह उस मारक पीड़ा से कभी नहीं उबर पाई। मुस्लिम राज्यों के बीच प्रगति को पीछे कर

49. आर्नल्ड,"द प्रीचिंग आफ इस्लाम", पृ. 185

देने और परोक्ष तौर पर पूरी दुनिया पर प्रभाव डालने वाली प्रलय की डरावनी प्रकृति को समझना मुश्किल और अतिरंजना असंभव है। प्रसंगवश यह बात भी ध्यान में रखने की है कि अरबी भाषा, जो यूरोप में लैटिन के सदृश महत्व रखती थी, का महत्व क्रमशः खोता गया।"[50]

नई राजनीतिक एकता

मध्य एशियाई अभियान ने इस्लामी दुनिया के लिए बड़ी आपत्ति का रूप लिया, वहीं उत्तर से भारतीय अभियान ने सतत् और रचनात्मक रूप लिया और वह मध्य-पूर्व में विस्फोट वाले अन्य अभियान के उन ज्वालामुखी पर्वत संबंधी तत्वों से तुलनात्मक तौर पर मुक्त बना रहा। यह तथ्य तब और भी महत्वपूर्ण है जब हम यह ध्यान में रखते हैं कि तुर्कों, टार्टरी लोगों और मंगोलों की उसी तरह की उपजातियों के सदस्य भारतीय अभियान में भाग लेते दिख रहे हैं। लेकिन ये तुर्क और टार्टरी लोग ऐसे हैं जो भारतीय धर्म तथा संस्कृति द्वारा आंशिक तौर पर दयालु बना दिए गए तथा विजेता के तौर पर भारत आने से पहले मंगोलों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया एवं इस्लामी संस्कृति से निकट संपर्क के कारण दयालु बन गए। जैसा कि पहले कहा गया, पराजित लोगों के साथ पुरुषों और महिलाओं को दास बनाने, पूजास्थलों के साथ हिंसा, प्रतिरोध करने वाले शहरों का नाश, धार्मिक असहिष्णुता के व्यवहार उन दिनों युद्ध और आक्रमण के आम तरीके थे। यदि इस काल का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो अन्य देशों की तुलना में इन सभी मामलों में भारत बहुत अधिक मुक्त रहा हालांकि यहां कई धर्म और पंथ थे तथा युद्ध बराबर हो रहे थे।

1001 ई. में महमूद गजनवी के आक्रमणों के साथ आरंभ होने वाला राजनीतिक अभियान भारत पर विनाशकारी वेग या विप्लवकारी धारा जैसा नहीं गिरता है। इसकी प्रगति उस नदी के सदृश लगती है जो हालांकि शुरुआत में नाश करती है या आकस्मिक रूप से बाढ़ लाती है लेकिन अंतिम परिणाम के तौर पर लाभकारी तथा जीवनदायिनी होती है। इस अभियान को पंजाब में अपने आपको स्थापित करने में लगभग एक शताब्दी लग जाती है जिसकी सीमाएं उन दिनों हिंदूकुश तक फैली हुई थीं। अगली शताब्दी में यह दक्षिण में महानदी और नर्मदा के उत्तरी तटों तथा पूर्व में बंगाल के सबसे अधिक दूर कोनों तक फैला। तेरहवीं शताब्दी के अंत और 14वीं शताब्दी की शुरुआत में अलाउद्दीन खिलजी के समय यह भारत के सुदूरवर्ती दक्षिणी सीमा प्रांतों तक पहुंचता है और भारतीय इतिहास में पहली बार भारत की "भौगोलिक अभिव्यक्ति" एक अधिपति के अंतर्गत आती है तथा तात्कालिक तौर पर सही, एक राजनीतिक एकता जैसा स्वरूप

50. "ए हिस्ट्री आफ पर्शिया", सर पर्सी साइक्स, वोल्यूम II,पृ. 98

अख्तियार करती है। निस्संदेह, चंद्रगुप्त और उसके पोते अशोक ने एक महान साम्राज्य पर शासन किया लेकिन साम्राज्य ऐसे समय बना जब देश में केंद्र से हट जाने की प्रवृत्ति वाले तत्व बहुत शक्तिशाली थे और बमुश्किल एक शताब्दी तक रहे। गुप्त साम्राज्य बहुत समय तक–तीन शताब्दियों से कुछ अधिक समय, चौथी से सातवीं शताब्दी–टिका रहा। हर्ष का दूसरा प्रयास था लेकिन उसका साम्राज्य उसकी व्यक्तिगत महानता का परिणाम था और इसलिए उसके साथ ही समाप्त हो गया। अलाउद्दीन का साम्राज्य भी टुकड़ों में बिखर गया लेकिन यह प्रयास के जारी रहने का परिणाम था और उसके साथ ही समाप्त नहीं हुआ। वह जिस अभियान का प्रतिनिधित्व करता था, उसने उसकी मृत्यु के बाद भी काम करना जारी रखा। इसके बाद से दिल्ली स्थायी राजनीतिक अधिकार का स्वीकृत केंद्र बन जाता है और भले ही राजा बदले और प्रांत विद्रोह करें, उन्हें दंड देने तथा अधीन करने के इसके अधिकार लोगों के दिमाग में कमोबेश सवाल नहीं उठाते हैं। धीरे-धीरे केंद्र से हट जाने की प्रवृत्ति वाले तत्व नियंत्रित कर लिए जाते हैं और उन पर नियंत्रण बनाए रखने वाला राजनीतिक संघटन बन जाता है तथा इस तरह एक केंद्रीय परम शक्ति का विकास धीरे-धीरे संभव हो जाता है; मुगल पांच शताब्दी से अधिक समय तक इस दीर्घकाय प्रयास को कुलक्रम से प्राप्त करते हैं और मुगल काल के दौरान भारत वैसा अनुभव करता है जैसा उसने ऐतिहासिक समय में एक बार को छोड़कर नहीं किया था जब प्रसिद्ध अशोक के समय वह उस लक्ष्य की ओर बढ़ा था। शुरुआत से ही भारत का एक लक्ष्य अपने बहुत बड़ी संख्या वाले बच्चों को उनकी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक एकता देकर सहिष्णु बनाता रहा था। मुगलकाल के दौरान इस राष्ट्रीय सम्मिलन की नींव फिर शक्ति और गहराई से रखी गई।

"...दूसरी तरफ, मुगल शासन के दो सौ साल, अकबर के राज्याभिषेक से लेकर मोहम्मद शाह की मृत्यु (1556-1749) तक, ने पूरे उत्तरी भारत और दक्षिण पठार के अधिकांश हिस्सों में भी हिंदू पुजारियों और स्थायी ग्रामीण आबादी को छोड़कर एक ही सरकारी भाषा, प्रशासनिक व्यवस्था और मुद्रा तथा लोकप्रिय खिचड़ी हिंदुस्तानी भाषा भी दी। मुगल सम्राटों के प्रत्यक्ष प्रशासन से बाहर के क्षेत्र में भी उनकी प्रशासनिक व्यवस्था, सरकारी शब्दों की सूची, दरबारी सदाचार और मुद्रा-व्यवहार को पड़ोसी हिंदू राजाओं द्वारा कमोबेश अपनाया गया।

"मुगल साम्राज्य के सभी बीस भारतीय सूबे बिल्कुल उसी प्रशासनिक मशीनरी के तरीकों, बिल्कुल उसी प्रक्रिया और सरकारी पदों से चलाए जाते थे। फारसी एकमात्र भाषा थी जो सभी सरकारी दस्तावेजों, फरमानों, सनदों, जमीन के पट्टों, आज्ञा पत्रों, संदेशों और रसीदों में उपयोग होती थी। समान मुद्रा मूल्य पूरे साम्राज्य में बना रहता था–सिक्के समान नामों, समान शुद्धता और समान

मूल्य के होते थे और सिर्फ टकसाल-शहर के नाम में भिन्नता थी। अधिकारियों तथा सैनिकों का एक से दूसरे प्रांत में बराबर तबादला होता रहता था। इस तरह एक प्रांत का निवासी अन्य प्रांत में अपने आपको लगभग घरेलू महसूस करता था; व्यापारी और यात्री एक से दूसरे शहर, एक से दूसरे सूबे तक बहुत आराम से जाते-आते थे और सभी इस विशाल देश की शाही एकता महसूस करते थे।"[51]

निस्संदेह, भारत द्वारा नियंत्रण न किए जा सकने वाले यूरोप के विस्फोट ने इस सम्मिलन में बाधा पहुंचाई। लेकिन इंग्लैंड ने मुगलों से उसी तरह भारतीय साम्राज्य का ढांचा और उसकी पुष्टता प्राप्त कर ली, जैसे मुगलों ने अपने पूर्ववर्तियों से बाहरी स्वरूप और रीढ़ पा ली थी। यह लगातार निर्माण के आठ सौ साल का परिणाम था कि ब्रिटिश शासन के एक शताब्दी के अंदर भारत ने अपने को राजनीतिक एकता के तौर पर गठन को महसूस करना आरंभ किया और जैसा कि हम देखेंगे, ब्रिटेन के विपरीत हार्दिक प्रयासों के बावजूद भारत ने राष्ट्रीय आदर्श धारण किया और पश्चिमी प्रतिनिधित्व वाली संस्थाएं प्राप्त करने तथा विदेशी शासन से मुक्ति की तरफ निर्विरोध ढंग से बढ़ना आरंभ किया। इस पूरी अवधि के दौरान एक रचनात्मक राजनीतिक विकास की निरंतरता रहती है जिस पर किसी को भी गर्व होना चाहिए।

---

51. "मुगल एडमिनिस्ट्रेशन", जदुनाथ सरकार, पृ. 129, 130

4

राष्ट्रीय सम्मेलन

इस्लाम और हिंदू धर्म का मिलन

इस्लाम के अनुयायियों को भारत में अपने स्वागत और सभ्य लोगों के इतिहास में अज्ञात अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता पर बहुत ही विस्मय हुआ होगा। उन लोगों ने अपने युग के लिए संभवतः उच्चतम, धार्मिक सहिष्णुता के संबंध में अपने धर्म के उच्च मतों को देखा होगा जिसे पूरे देश ने उन्हें दिया। वे लोग इस बात से और अधिक विस्मित हुए होंगे कि बाहरी लोगों के लिए इतने सहिष्णु तथा सभी जातीय एवं राजनीतिक पूर्वाग्रहों से इतने मुक्त लोग अपनी सामाजिक आदतों और रीतियों में दुनिया में सबसे अधिक सनातनी तथा कठोर तौर पर विशिष्ट हैं। ये जाति बंधन इतिहास की विरासत थे और पूरे देश की आत्मा ने बौद्ध धर्म के रूप में उनके खिलाफ विद्रोह किया था। लेकिन उस विद्रोह की प्रतिक्रिया हुई थी क्योंकि इसने मानवीयता को अपनी बड़ी सीमाओं–ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक, से श्रेष्ठ नहीं होने दिया। इसी तरह, भारत का धर्म और संस्कृति कुछ मामलों में और कुछ हद तक निश्चित रूप से श्रेष्ठ हुआ और जाति व्यवस्था के बावजूद इसमें मानवीय दृष्टिकोण तथा सहानुभूति आई जो उन अन्य लोगों की तरह कृपा करके नहीं देता था जिनकी सभ्यताएं इस तरह की सीमाओं से मुक्त लगती थीं। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि अपने सामाजिक संघटन में और अपने धार्मिक विश्वासों में हिंदू और मुस्लिम समुदाय एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। और ऐसे समय जब दोनों एक साथ आए, इस्लाम अपने पहले वेग में था और हिंदू अपने बड़े धार्मिक उत्तेजना–अपनी प्रकृति में सामाजिक प्रतिक्रियावादी और धर्मपरायण, की वेदना में था। इन सबके साथ दोनों समुदायों ने न सिर्फ एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता बल्कि सर्वाधिक सौजन्य एवं सहयोग के साथ एक साथ रहना और विकसित होना संभव पाया। यह बात जीवन पर गहरी नैतिक चेतना, संस्कृति की एकता, अनुरूपता और विस्तृत समग्र दृष्टि दिखाती है क्योंकि दोनों गहरे तौर पर धार्मिक थे।

भारतीय शिल्पकला पर मुस्लिम कला का प्रभाव

धर्म की तरह भारत की कलाओं ने भी नए आने वालों को सराहना से भर दिया। मंदिर, बावलियां और तटबंध कला के अद्‌भुत काम थे जिनकी अलबरूनी ने बहुत अधिक प्रशंसा की। हिंदू शिल्पकला के बारे में वह कहता है :

"इसमें उन लोगों ने कला का बहुत उच्च स्तर अर्जित किया है इसलिए हमारे लोग जब उन्हें देखते हैं, उन पर आश्चर्य करते हैं और उसका वर्णन करने में असमर्थ हैं, उन जैसा निर्माण तो दूर की बात है।"

लेकिन जल्द ही भारत की भूमि पर "दो भिन्न मानसिकताओं और उनकी संस्कृतियों के टकराव ने एक नई संस्कृति की रचना की। ...कला में हिंदू और मुस्लिम तत्व शिल्पकला के नए तरीके की रचना के लिए एक साथ हो गए। धार्मिक, सामाजिक या सैन्य उद्देश्यों के लिए मुसलमानों द्वारा खड़े किए गए भवन न तो शुद्ध मुस्लिम, सीरियाई-मिस्री, फारसी या मध्य एशियाई थे, न हिंदू भवन, मंदिर या महल या अन्य स्थान पर मरे हुए व्यक्ति के स्मरणार्थ स्तंभ शुद्ध हिंदू। मुस्लिम शिल्पकला की सामान्य कठोरता कम कर दी गई और हिंदू की कोमल प्रचुरता पर अंकुश लगा दिया गया। दस्तकारी, आलंकारिक प्रचुरता और आम स्वरूप लगभग हिंदू बने रहे। धनुषाकार रूप, सतही गुंबद, चिकनी दीवारें और भव्य तथा बड़े आंतरिक रूप मुस्लिमों के अध्यारोपण थे।"[52]

एक नए सम्मिलन की भारत की चाह

लेकिन, हालांकि भारत ने धर्म, दर्शन और कला में उल्लेखनीय प्रगति की थी, जब इस्लाम का पदार्पण हुआ, यह अपने सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में गंभीर समस्या का सामना कर रहा था। उसका धार्मिक जीवन इसके जन्म के लगभग हर चरण में धर्म का प्रतिनिधित्व करता था—साधारणतम और सबसे असभ्य से लेकर सबसे दुरूह और सबसे सटीक। उसकी सामाजिक व्यवस्था उसकी जाति व्यवस्था से टुकड़ों में बंटी हुई थी और हर्ष साम्राज्य के पतन के बाद थोड़ी-बहुत राजनीतिक एकता, जो उसने हासिल की थी, बिगड़ गई और सामाजिक जीवन की तरह असंख्य छोटे तथा स्वतंत्र राज्यों से उस वक्त बना उसका राजनीतिक जीवन लगातार आपसी संघर्षों तथा मतभेदों में उलझ गया। इन तथ्यों के मद्देनजर यह स्पष्ट है कि अभूतपूर्व तौर पर इस अवधि में उसकी सख्त जरूरत धार्मिक शांति और सम्मिलन तथा सामाजिक एवं राजनीतिक जुड़ाव थी। स्वतंत्र और संघर्षरत इकाइयों का इसके राजनीतिक प्रतिरूप के साथ इसकी जाति व्यवस्था के जुड़ाव को नए ढंग की अनुरूप संरचना में निर्माण किया जाना था। लोगों को सामान्य भाईचारे में ढालना था और उनकी आम जरूरतों को पूरा

52. इनफ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर, तारा चंद

करने तथा समाप्त न होने वाले संघर्षों से उन्हें सुरक्षा देने के लिए एक संबद्ध राजनीतिक एकता बनाई जानी थी। रीढ़ की हड्डी से बने भारत की जरूरत थी। यह भारत के सामने बड़ी समस्या थी जब इस्लाम ने उसके राष्ट्रीय जीवन में सामाजिक तथा राजनीतिक ढंग से काम करना आरंभ किया। उस जीवन पर इस्लाम के संगठित प्रभाव की जांच के लिए हमें यह देखना होगा कि इसने समस्या के समाधान में भारत की किस हद तक मदद की।

इतिहास किस तरह दूषित कर दिया गया है

हमारे इतिहासकार इस दृष्टिकोण से सवाल पर निगाह नहीं डालते हैं। मुस्लिम इतिहासकार गैर धर्मी की हार को लालच की निगाह से देखते हैं और संपत्ति जो वह जमा करता है, मंदिर जो वह नाश करता है और बड़ी संख्या में काफिरों को जो वह नरक में भेजता है, उसे अपनी सफलता में गिनते हैं। म्लेच्छों के जबरन प्रवेश से राजनीतिक शक्ति के नष्ट होने, धार्मिक जंगलीपन के कार्यों और अपने धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की अशुद्धता पर हिंदू विलाप करते हैं। पश्चिमी इतिहासकार इन दोनों पर हंसते हैं और चतुराई से एक को दूसरे के खिलाफ खड़ा करते हैं। इतिहास की इस तरह की सांप्रदायिक और स्वार्थी सोच ने काफी क्षति पहुंचाई है। इसने पूर्वाग्रह और उत्तेजना का वातावरण तैयार किया है जिसने समस्या के निष्पक्ष और रचनात्मक विचार को बहुत कठिन बना दिया है। सामाजिक और राजनीतिक अभियानों का देश के लिए उसकी सामूहिक उपयोगिता की दृष्टि से आकलन किया जाना चाहिए और न कि प्रजापीड़न और असहिष्णुता के इक्का-दुक्का कामों से जो इस तरह के अभियानों में आम बात है और मानव जीवन के न टाले जाने योग्य विपर्यय हैं। हमारे सामने प्रस्तुत किए जाने वाले एकपक्षीय चित्रों में सतत् राजनीतिक संघर्षों पर, राजाओं और विजेताओं की क्रूरताओं, असहिष्णुता, निर्दयताओं और अतिशयों पर तथा लोगों की आम गरीबी एवं असुरक्षा पर जोर दिया जाता है। इन सबको लोगों की आम उदासीनता, उनकी पारलौकिकता, राजनीतिक जीवन में हित की उनकी इच्छा और अपनी इच्छा के अनुरूप उन्हें ढालने से जोड़ा जाता है। लेकिन निरंकुश शक्ति के कार्य के खिलाफ अनगिनत रोकों और अवरोधों–सांस्कृतिक, धार्मिक और संवैधानिक, के बारे में कुछ नहीं कहा जाता जिसे कोई भी राजा–चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, उल्लंघन करने के बारे में सोच भी नहीं सकता; न भारत की उस खास व्यवस्था के विषय में बात होती है जिन पर राजा और उसके दरबार की हालांकि यह सामाजिक संघटन का अंग होना था, लोगों की आर्थिक, धार्मिक या सामाजिक चिंताओं पर कम प्रभाव होता था क्योंकि लोगों को भी दरबार की चिंताओं, षड्यंत्रों और संघर्षों से कम सरोकार होता था। राजनीतिक की तरह लोगों के धार्मिक

जीवन की भी अनदेखी की जाती है और इसके सभी तत्वों और अंधविश्वासों का प्रतिनिधित्व किया जाता है, मानो ये भारतीय सभ्यता के सभी कुछ हैं। एक आम भाव इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि हमारे पुरखे अंधविश्वासी, सपने देखने वाले थे जो अपने जीवन से अधिक परलोक की चिंता करते थे। हमें कभी नहीं बताया जाता कि मानव इतिहास के आरंभ से 19वीं शताब्दी की शुरुआत तक जब इंग्लैंड ने अपनी शक्ति पूरी तरह ठोस कर ली, भारत दुनिया में अपने प्रतिद्वंद्वियों के बीच सबसे धनी और महानतम उत्पादक देश था। साफ तौर पर, अगले जीवन की चिंता में उसने इस दुनिया की अनदेखी नहीं की। फिर, राजनीतिक संघर्षों पर खास तौर से ध्यान केंद्रित करते हुए हमें यकीन दिलाया जाता है कि ब्रिटिश आगमन से पहले पूरा देश अराजकता की गिरफ्त में था; हालांकि तथ्य यह है कि भारत में कानून-व्यवस्था नियंत्रण उन अनगिनत गणतंत्रों का काम था जो स्वतंत्र ग्रामीण और शहरी इकाइयों के रूप में थे जिनके अपने संबंधित क्षेत्रों में संवैधानिक प्रशासनिक अधिकारों में वारेन हेस्टिंग्स के समय तक किसी हिंदू या मुस्लिम राजा ने कभी हस्तक्षेप नहीं किया; और इस तरह राजाओं के संघर्षों तथा राजवंशों के परिवर्तनों से देश की आम शांति और स्थिरता में खास व्यवधान नहीं हो सका। इस तरह इन सबका इसकी आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रगति पर काफी कम प्रभाव पड़ा। हमारे इतिहास को इस तरह अपने पिछले समय की अवमानना को जन्म देने, गौरवहीन दुर्बलता का भाव लाने और स्थिर भाव वाली हीनता का वातावरण बनाने की दृष्टि से दूषित किया गया। यहां हम हिंदू-मुस्लिम समस्या से रू-ब-रू हैं और हम यह कहने को विवश महसूस करते हैं कि ऐतिहासिक विचलन के जरिये हमें मुस्लिम काल से अधिक आचारभ्रष्ट और जातिभ्रष्ट करने का षड्यंत्र अधिक तीखे ढंग से और अधिक विस्तृत ढंग से कहीं भी नहीं किया गया है।

इस बारे में उदाहरण महान किंतु स्वार्थी और पूर्वाग्रहग्रस्त अंग्रेज इतिहासकारों ने तैयार किए और इन्हें अन्य लोगों ने विभिन्न वजहों से अचेतन या चेतन तौर पर अपनाया। मुस्लिम काल को भारतीय काल के सबसे अंधकारपूर्ण काल के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है जिस दौरान भारत का राष्ट्रीय जीवन इसके जन्म के सामान्य तरीके से विचलित हो गया और सामाजिक तथा धार्मिक उपद्रव में डूब गया जिससे अपने को बाहर निकालना इसके लिए कठिन हो गया है। मुस्लिम शासन को विदेशी शासन और इसके युद्धों को देश का धर्म परिवर्तन करने तथा घरेलू आबादी को सताने एवं पीड़ा देने के लिए विस्तारवादी धर्मयुद्ध बताया गया है। कई दफा उत्साहपूर्ण शैली भी अपनाई गई है लेकिन इतिहास के अपने दिए गए कोर्स के अध्ययन के बाद औसत विद्यार्थी के दिमाग पर ऊपर बताई गई बातें आमतौर पर बैठ जाती हैं। और चूंकि स्कूल में पढ़ाया

जाने वाला इतिहास उच्चतर स्तर से अधिक जहरीला है इसलिए उच्चतर स्तर के विद्यार्थी लगभग अपने बने-बनाए दिमाग और गहरे पूर्वाग्रह के साथ अपने अध्ययन में जाते हैं जिन्हें बदलना लगभग असंभव है। स्कूलों और कालेजों के ज़रिये जहर अखबारों और पत्रिकाओं, आम पैंफ्लेट्स और किताबों, भाषणों और विचार-विमर्शों में चला गया है तथा इस तरह हमारे संपूर्ण जीवन में व्याप्त होता चला गया है।

हमने मुस्लिम शासन के पूरे काल पर तेजी से विचार किया है और विचार के कुछ बिंदुओं की ओर संकेत किया है जो दिखाता है कि इस तरह के विचार हमारे इतिहास में नहीं स्थापित किए गए हैं। वस्तुतः, हालांकि दो धर्मों में भिन्नताएं स्पष्ट हैं, भारत में उनके अनुयायियों के जीवन की मूलभूत एकता और उनके सामान्य भाग्य की दबावगत आवश्यकता अधिक स्पष्ट तथा अधिक वास्तविक है। और इससे ही एक-दूसरे की संवेदनाओं के लिए सहयोग तथा सदेच्छा का, सहिष्णुता और आदर-सत्कार का वातावरण जन्मा जिसने अस्थायी झटकों के बावजूद उन्हें अपने जीवन की आम समस्याओं के एक साथ समाधान के लिए भाइयों की तरह बनाए रखा। इनका सम्मिलन इस काल के लिए अचंभा था और इस वजह से निहित स्वार्थ वाली एजेंसियों को इसको पूरी तरह तहस-नहस करने में लंबा समय लगा। इस तरह तहस-नहस किए जाने से पहले इसने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कई उपलब्धियां हासिल कर ली थीं।

भारत पर मुस्लिम विजय काफी धीमी और सतत् थी। 715 ई. में सिंध पर विजय की गई। 1030 ई. में पंजाब और सिंध–दोनों महमूद के शासन के अंतर्गत आए। 12वीं शताब्दी के अंत में उत्तरी भारत और बंगाल पर विजय पाई गई। 13वीं शताब्दी के अंत में मुस्लिम शासक भारत की दक्षिणवर्ती सीमाओं तक पहुंचे। इस तरह अलाउद्दीन की उपलब्धि वस्तुतः छह शताब्दियों के सतत् प्रयास और इच्छाओं का प्रत्यक्ष परिणाम थी। इस आश्चर्यजनक प्रयास के लिए प्रेरणा उत्तर से मिली और प्रमुख हिस्सा भारत के मुस्लिम बेटों ने निभाया क्योंकि उनकी सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ता ने जाति द्वारा विभाजित समाज के बीच रीढ़ की हड्डी का काम किया और इसने उनकी नीति को सततता और संदर्भ दिया जो पहले के बौद्ध धर्म के बाद के प्रयासों में छूट रहा था। इस प्रेरणा के साथ साम्राज्य निर्माण के लिए आवश्यक ताजा उपकरण भारत से बाहर के मुस्लिम जगत से भी उपलब्ध हुए। हजारों सर्वोत्तम दिमाग और विशाल अनुभव, उद्यम तथा क्षमता के लोग भारत आए और बड़े खतरे उठाकर उनकी मदद की। इन छह शताब्दियों के दौरान भारत एक नया कंकाल–अपूर्ण, रुक्ष और अधूरा, बनाने में सक्षम हुआ जिसमें मांस तथा मांसपेशियां बनती रहीं और मुगलकाल में इसने शक्तिशाली सजीव आकार लिया जिसने राजनीतिक जीवन के

अंतःसम्मिलन का चिरस्थायी आधार प्राप्त किया।

भारत में राजाधिकार

यह काम संभव हो पाया क्योंकि उसका प्राचीन धर्म और संस्कृति जातीय तथा क्षेत्रीय ईर्ष्या से तुलनात्मक तौर पर मुक्त रहा। अपनी सामाजिक प्रवृत्तियों में शास्त्रानुसारी और विशिष्ट होते हुए भी भारत उन सबको ग्रहण तथा समाहित करने के लिए बराबर तैयार था जो संस्कृति की अन्य व्यवस्थाओं में उत्तम एवं जीवनदायिनी था। जाति को छोड़कर सतत् समाहित करने की उसकी शक्ति की तरह भारत की सहिष्णुता असीमित थी और यह सहिष्णुता ही थी जिसने हिंदू और मुस्लिम समुदायों को अपनी राजनीतिक तथा आर्थिक प्रगति में तहेदिल से सहयोग करना संभव बनाया। वैसे, उसके लोग, हिंदू और मुसलमान—दोनों (गलत या सही) राजाधिकार को दैवीय व्यवस्था मानते थे और इस तरह चेतना के बिना किसी संताप के वे किसी भी राजा—चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, के प्रति विश्वासी होते थे। इस तरह के जीवन का सामाजिक आयाम उन तीक्ष्णताओं और संघर्षों से मुक्त होता था जो आमतौर पर राजनीतिक क्रांतियों का परिणाम होता है। हर राजा को निस्संदेह आकांक्षावान दावेदारों तथा विद्रोही कुलीनों के खिलाफ अपनी स्थिति बनाए रखनी होती थी लेकिन आम लोग उनकी दरबारी प्रतिद्वंद्विताओं और संघर्षों में कोई रुचि नहीं रखते थे और उस व्यक्ति के प्रति अपना विश्वास तुरंत प्रकट कर देते थे जो सिंहासन पर बैठे—चाहे वह अधिकार के साथ उसे हासिल करे या विश्वासघात से। यह सामाजिक उपाय राजनीतिक क्रांतियों के कभी भी पनपने के विनाशकारी परिणामों के नियंत्रण में सेफ्टी वाल्व के रूप में काम आता था और इसने उस नवीन राजनीतिक सम्मिलन के जन्म के लिए विस्तृत आधार तैयार किया जिसके पीछे भारत का सामूहिक दिमाग तैयार हो रहा था और जो यह उपकरण के तौर पर सक्षम लोगों की व्यक्तिगत आकांक्षाओं के उपयोग के जरिये प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था।

इन सबके अलावा इस सिद्धांत का गुण-दोष इस तथ्य में है कि चूंकि इससे शासक को अपनी प्रजा के पूरे समूह की राजभक्ति और उसका विश्वास लगभग अपने आप प्राप्त हो जाता था, यह अपने लोगों के बीच धार्मिक या सांप्रदायिक कलह के बीज बोने के कारणभूत होने से उसे वंचित करता था। हम राजाओं को (निस्संदेह, दुर्भाग्यवश कुछ अपवादों के साथ) उच्च भूमिका निभाते हुए, जाति या धर्म का भेदभाव न रखते हुए सांस्कृतिक सम्मिलन और सामाजिक एकता के आंदोलनों में मदद करते हुए पाते हैं। उन लोगों ने विचार और विश्वास के उस सम्मिलन का स्वागत किया तथा अपने व्यक्तिगत उदाहरण से उसे प्रोत्साहित किया जिस पर दोनों धर्मों के संत आम लोगों के जीवन में काम कर रहे थे।

सामाजिक सम्मिलन

जहां दो धर्मों ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन के सम्मिलन को राजनीतिक क्षेत्र में आकार देने और रूप देने में सहयोग किया, सामाजिक सम्मिलन पर उनका प्रभाव कम महत्वपूर्ण नहीं था। स्पष्टतः, दोनों समुदायों के सामाजिक संघटन बहुत भिन्न हैं। हिंदू सामाजिक व्यवस्था अलग इकाइयों का समूह है जो अभिन्न रूप से विशिष्ट और साथ भोजन करने तथा आपस में विवाह करने से स्पष्ट इनकार के जरिये सभी विदेशी प्रवेश को जानबूझकर अभेद्य बनाता है। इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था विपरीत, विस्तृत आधार वाली, समाहित करने योग्य, भाईचारा तथा समानता की भावना से प्रेरित है। हिंदू व्यवस्था की अपनी समाहित करने वाली और साथ जोड़ने वाली संभाव्यता थी लेकिन इसने धीमी गति, अलक्षित रूप में और कई सीमाओं के साथ काम किया। मुस्लिम व्यवस्था में त्वरित स्वीकार और चेतन विस्तार की महान शक्तियां थीं हालांकि इसमें भी कुछ मामलों में अपने ढंग का पृथकत्व और अलगाव था।

इस तरह की दो व्यवस्थाओं की समीपता ऊपरी तौर पर देखने पर आपसी घर्षण की प्रबल संभावना की ओर संकेत करती लगती है लेकिन निकट से देखने पर यह साफ हो जाता है कि ऐसा नहीं था।

वह काल और भारत की जाति व्यवस्था की कठोरता वर्तमान समय की दुनिया के लिए एक अचंभा है। लेकिन सब दिन से यह सभी भारतीय विचारकों तथा सुधारकों के लिए सबसे अधिक महत्व की समस्या रही है। भारत की स्वदेशी आबादी आर्य संस्कृति के अपनी उत्तरी घाटियों के पार करने से पहले जातियों और वर्णों में बंटी हुई थी। यह यकीन करने का कारण है कि आर्य विचारकों और नेतृत्वकर्ताओं ने वंशवाद के मनोवैज्ञानिक-शारीरिक नियमों के साथ-साथ तात्कालिक भिन्नता के अनुरूप सामाजिक संघटन की योजना विकसित की जिसके जरिये उन्होंने जिसे अधीन किया था, उन जातियों को वेदों के निर्देश के अनुरूप चार मुख्य पेशेगत वर्णों में से कोई-न-कोई देकर इन्हें समाहित करने, सुसंस्कृत करने और आर्यानुरूप करने में सक्षम हुए। समय के अंतराल में इस योजना का जीवंत लचीलापन समाप्त हो गया और यह जाति-व्यवस्था के रूप में कठोर हो गया जिसका आधार ठोस ढंग से सिर्फ जाति हो गई जिसने हिंदू समाज को हजारों टुकड़ों में विभक्त कर दिया। लेकिन राष्ट्रीय मानस में उच्चतर सम्मिलन के लिए उत्कंठा बनी रही और इसी उत्कंठा ने अंततः बौद्ध धर्म में शक्तिशाली अभिव्यक्ति पाई। बुद्ध ने एक प्रसिद्ध पद में चार-सूत्री पेशेगत सामाजिक संघटन की व्यवस्था के आधारभूत सिद्धांतों का फिर वर्णन किया जो तथाकथित जाति-व्यवस्था में बदल गया था। हालांकि बौद्ध धर्म के बारह सौ साल बाद गंभीर प्रतिक्रिया हुई लेकिन तब भी राष्ट्र के उच्चतर मानस तथा इसकी अंतःप्रेरणा का उसी दिशा में बढ़ना

जारी रहा। इन सबके साथ इस्लाम का तारतम्य था और भारत में इसके आगमन ने इसे नया रूप दिया जिस वजह से हिंदू धर्म के अंदर जाति व्यवस्था के खिलाफ शक्तिशाली आंदोलन अपने आप अस्तित्व में आए। इस तरह, जहां तक सामाजिक संघटन की बात थी, हालांकि इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच सतह पर शत्रुता थी, दोनों ही सामाजिक व्यवस्था को एक दिशा में ले जाने की कोशिश कर रहे थे—पहला चेतन रूप से और दूसरा, अवचेतन तौर पर। धर्म त्याग के मामलों में इस्लाम और बौद्ध धर्म के बीच एक आधारभूत अंतर था। बौद्ध धर्म ने सामाजिक संरचना के अंदर से काम किया और इस्लाम ने बिल्कुल बाहर से। बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणवाद की पकड़ को नष्ट करने की कोशिश की और इसके भिक्षु ब्राह्मण पुजारियों के प्रतिद्वंद्वी थे। मुस्लिम राजाओं ने ब्राह्मणों के विशिष्ट अधिकारों को लगभग पूरी तरह मान्यता दी और मुस्लिम विद्वानों तथा पीरों एवं फकीरों और हिंदू धार्मिक व्यवस्थाओं के बीच किसी भी तरह की प्रतिद्वंद्विता नहीं थी—उनके अनुयायी भिन्न थे। इस्लाम ने हिंदू समाज की निम्नतम तहों से अपने अनुयायी बनाए जो व्यवहार में शास्त्रानुसारी हिंदू धर्म के दायरे से बाहर थे और अपने धार्मिक ज्ञान के रखवाले हिंदू धार्मिक पुजारी तथा विद्वान पुरुष अपनी सफलताओं की देखभाल की अनदेखी कर सकते थे। इसकी सबसे बड़ी सफलताएं पंजाब और बंगाल में थीं जहां विरोधी आंदोलन को सबसे कड़े प्रतिकार का सामना करना पड़ा और जहां हालांकि बौद्ध धर्म को कुचल दिया गया था, पुरानी व्यवस्था अपने अधिकार को बनाए रखने में संतोषजनक ढंग से प्रभावी नहीं रही थी। वस्तुतः, विरोध का डंक इस तथ्य में है कि मुसलमानों की संख्या तेजी से बढ़ी और हिंदुओं की संख्या लगातार कम होती गई। लेकिन यह तथ्य सामूहिक हिंदू चेतना के मन में नहीं आया और न ही आ सकता था क्योंकि उन असंख्य मतों में लोगों के बंटवारे के कारण इस तरह की चेतना की उपस्थिति ही नहीं थी जिनमें से हर मत उतना ही वास्तविक और उतना ही स्व-नियंत्रित एवं उतना ही स्व-प्रयासी था जितना स्वयं इस्लाम। सामूहिक एकता की चेतना तब तक विकसित नहीं हो सकी जब तक वास्तविक और जीवंत धार्मिक सम्मिलन स्थापित नहीं हो गया तथा हालांकि राष्ट्रीय मानस उस दिशा में तेजी से बढ़ रहा था, उस अवधि में यह निपुण तथ्य नहीं था। सम्मिलन की इस प्रक्रिया ने अपने अन्य धार्मिक विश्वासों में बौद्ध धर्म को पहले ही शामिल कर लिया था और भरोसा दिलाया कि जब यह पूर्ण तथ्य बन जाएगा तो इस्लाम भी भारत के अन्य धर्मों की तरह अंग बन जाएगा।

तुलनात्मक तौर पर सामाजिक और धार्मिक शत्रुता से दूर जीवन की कई चिंताओं में निकट रूप से सहयोग कर रहे दो समुदाय आमतौर पर शांति तथा सद्भावपूर्वक एक-दूसरे के साथ रहते थे। मुस्लिम समुदाय में विदेशी तत्व लगभग

छोटी वस्तु को बड़ी दिखाते थे। और दूसरे देशों से आने वाले लोगों ने भी यहां की महिलाओं से विवाह किया। भारतीय महिलाएं उन अपरिचितों के घरों में अपनी आध्यात्मिक उत्कंठाएं और धार्मिक समग्र दृष्टि ले गईं और इस तरह उनके घरेलू जीवन और देश के जीवन के बीच शक्तिशाली संबंध की रचना की। इसके अलावा उन्होंने अपने नए घर में अपनी सभी सुंदर और गहन प्रतिभाओं तथा सामाजिक उत्सवों को प्रकट किया और इस तरह सामान्य संस्कृति के जन्म के लिए अपनी आधारशिलाएं रखीं। संख्या में काफी कम इस वर्ग के अतिरिक्त अपने धर्म के रूप में इस्लाम स्वीकार करने वाला शेष भारतीय मुस्लिम समुदाय था लेकिन इसने खुद अपने जीवन में कोई अन्य संस्कृति कभी नहीं देखी थी। इन सबने अपने दैनिक जीवन में कुछ आवश्यक तालमेल बनाए जबकि सांस्कृतिक पक्ष पर उस जीवन का पूरा अभिप्राय तथा उसकी पूरी पृष्ठभूमि व्यावहारिक तौर पर बिना बदली हुई रही। जैसा कि हमने कहा है, धर्म परिवर्तन आमतौर पर सामूहिक होते थे—पूरी बिरादरियां नया धर्म स्वीकार करने का निर्णय एक साथ लेती थीं। इस तरह मुस्लिम समाज के निम्नतर वर्गों में पुराना जाति संघटन अब भी बचा हुआ है—कई बार वंशगत पर्सनल कानूनों तक से अलगाव की हद तक। इसीलिए किसी भी वक्त दो समुदायों के बीच सामाजिक संपर्क नहीं टूटे और धर्म परिवर्तन के कारण कभी हिंसा नहीं हुई। इस तरह जीवन के निम्नतर चक्रों का निकटता से एक-दूसरे से जुड़ाव था, इसके उच्चतर चक्रों में अब भी निकटतर सहयोग और मित्रता थी। राजनीति के क्षेत्र में आपसी सहयोगों और षड्यंत्रों में, युद्धों और शांति संधियों में, हिंदुओं और मुसलमानों ने सामान्य भाईचारे के सदस्यों के तौर पर काम किए। कला, पेंटिंग और शिल्पकला और यहां तक कि संगीत के क्षेत्र में भी दोनों साथ-साथ विकसित हुए और समान उस्तादों से शिक्षा, प्रशिक्षण और प्रेरणा ली। हिंदू विद्वानों ने मुस्लिम शिष्यों को शिक्षा दी और मुस्लिम विद्वानों के पास अपने शिष्य के तौर पर हिंदू थे और इस प्रकार दो संस्कृतियों की प्रतिभा में सम्मिलन की रचना हुई जो अपनी समृद्धि और सुंदरता में उन सबको पार कर गई जो पहले हासिल की गई थी। दो समुदायों का सैन्य जीवन पच्चीकारी की तरह था जिसमें हिंदू और मुस्लिम अधिकारी तथा हिंदू एवं मुस्लिम प्रमुख—सभी एक साथ पदस्थापित थे। और भारत में शायद ही कोई युद्ध हुआ हो जिसमें दो समुदायों के युद्धघोष—"हर-हर महादेव" और "अल्ला हो अकबर"—युद्धरत पक्षों में से प्रत्येक के पक्ष से बराबरी से न हुए हों।

दो संस्कृतियों का मिश्रण

इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का स्वाभाविक और न टाले जाने योग्य परिणाम था

कि हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे पर लगातार प्रभाव डाल रहे थे और जीवन के हर क्षेत्र में एक-दूसरे को प्रभावित और परिवर्तित कर रहे थे। यह आपसी प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण था और निश्चिततः संस्कृतियों के मिश्रण की तरफ बढ़ रहा था। इस कारण आज भी हम शहरों में समृद्ध हिंदुओं और मुसलमानों में पश्चिमी तरीके की सोच और रहन-सहन के मिश्रण पाते हैं। अंतर यह है कि यह मिश्रण एकपक्षीय है। पश्चिम के व्यक्ति से अदल-बदल न होने के कारण पूरी राजनीतिक परवशता के अधीन है और इस वजह से स्वतंत्र स्वीकार की जगह अनुकरणीय दास-मनोवृत्ति की प्रवृत्ति वाली है। जब दिल्ली का आधिपत्य निस्संदेह हो, इस तरह हिंदुओं पर मुसलमानों का राजनीतिक प्रभाव कभी भी एक पक्षीय और पूर्ण नहीं था जैसा बाद में अंग्रेजों का दोनों पर रहा है। और यहां तक कि बाहर से आए मुसलमान भारतीय बन गए और जबकि अंग्रेज ऐसा कभी नहीं हो पाए हैं। संस्कृतियों के निश्रण में धीरे-धीरे प्रगति हुई क्योंकि दोनों धर्मों के बाहरी स्वरूप बहुत भिन्न थे लेकिन इसके साथ ही लगातार निकटता, एक-दूसरे से जुड़े जीवन और आम प्रारब्ध के कारण यह सतत् और दूरगामी था।

उन लोगों ने दर्शन, विज्ञान, खगोल विद्या, औषधि आदि; ललित कलाओं (शिल्पकला, संगीत, नृत्य, पेंटिंग, सुंदर लिखावट की कला, रेखांकन और पांडुलिपियों के प्रतिलिप्यंतरण, सूती, सन, रेशमी और ऊन के बने महीन कपड़ों की बुनावट, जेवरात, इत्र आदि); शिल्प (धातु निर्माण, अस्त्र निर्माण, बर्तन निर्माण आदि) और जीवन के लगभग सभी संभव क्षेत्रों में एक-दूसरे के विचार उधार लिए। और इन सभी में एक मिश्रित प्रगति थी जिसने जीवन को समृद्ध किया और इसे पहले से अधिक सुंदर बनाया। खास तौर पर, स्वाद और खुशबू से जुड़ी कलाओं में मुसलमानों ने कई सुधार शुरू किए। आज भारत के सबसे अधिक पसंद किए जाने वाले फूल बाहर से लाए गए थे, यहां उन्हें बेहतर बनाया गया—गुलाब, गुल-ए-दाउदी, गुल-ए-शब्बू, गुल-ए-अब्बास—ये सब अपने आयात के देश या अपने को बेहतर बनाने वाले का धर्म बताते हैं। कई फल नए पेश किए गए, कई स्वदेशी फलों को बेहतर बनाया गया। वनस्पतियों के साथ भारत के पशुओं को भी समृद्ध किया गया। घोड़ों, ऊंटों और कबूतरों की नस्लों का काफी विकास किया गया। संगीत में खयाल, ठुमरी, दादरा, गजल—इन सबका इस अवधि के दौरान विकास किया गया। हम जितने गहरे जाते हैं, इस मिश्रण का आधार उतना ही विस्तृत होता जाता है। भोजन और वस्त्र में इस अवधि में अद्भुत आदान-प्रदान और जुड़ाव हुए। उपयोग की मूलभूत वस्तुएं हिंदू और मुस्लिम घरों के लिए सामान्य रहीं, जैसे दाल, भात, चपाती, रोटी, तरकारी जबकि कई नई चीजें मिठाइयों और अन्य भोज्य पदार्थों में जुड़ गईं, जैसे हलवा, कलाकंद,

खुरपा, बालूशाही, बर्फी, गुलाब जामुन आदि जो लोगों के आम स्वाद से विकसित हुईं। मांस वाले भोजन में असंख्य चीजें जुड़ीं क्योंकि मुसलमान मांस खाने वाले थे और इसी तरह हिंदुओं की बड़ी संख्या भी ऐसी थी—अंतर सिर्फ यह था कि एक वर्ग एक पशु के मांस को नहीं खाता था क्योंकि यह मानव के लिए इतना लाभकारी था कि उसकी हत्या नहीं की जा सकती थी जबकि दूसरे के लिए एक पशु इतना गंदा था कि उसे खाया नहीं जा सकता था। हिंदुओं और मुसलमानों के उपयोग वाले वस्त्र और वेशभूषा और रसोई के बर्तन तथा काठ के सामानों के नाम सामान्य संस्कृत तथा फारसी के शब्दों के अभिन्न मिश्रण हैं।

अपने पुजारियों के कारण सभी किस्म के छोटे देवताओं और देवियों, खनिज, सब्जी और पशु से पहले ही अभ्यस्त हिंदुओं ने खास तौर पर अपने मंदिर और पूजा-विधि में तकिया, मकबरा, दरगाह और मस्जिद को तुरंत अंगीकार कर लिया। और उन लोगों ने अपने वर्तमान उपदेशकों की सूची में इमामों, मुजाविरों, फकीरों, औलियाओं आदि को जोड़ लिया और आध्यात्मिक प्रबोधन तथा दुनियावी आशीर्वाद एवं जादुई चिकित्सा, मंत्रों और ताबीजों के लिए उनकी शरण में जाने लगे क्योंकि वे इन सबके लिए अपने ही पंडों, साधुओं, महंतों और जोगियों के पास जाते रहते थे। अगर हिंदू पुजारी कम निवारक रहे थे, यह संभव है कि अशिक्षित मुसलमानों ने उसी तरह और उसी संख्या में उनके और पूजा के उनके स्थानों पर जाना शुरू कर दिया था जिस तरह हिंदुओं ने मुस्लिम धर्मगुरुओं और पूजा स्थानों पर जाना शुरू किया। आज के दिन लाखों मुसलमान गांवों में छोटी चेचक की देवी—शीतला को दूध और खाद्य पदार्थ अर्पित करते हैं और वे अन्य हिंदू उपासना स्थलों की पूजा करते हैं।

मुसलमानों की पूरी जमात ने अपनी जाति-व्यवस्था के विभिन्न तरीकों तथा स्तरों को भी बनाए रखा और कुछ वर्गों ने तो खाने-पीने में हिंदू 'अछूतवाद' तक को भी अंगीकार कर लिया। हिंदू और मुस्लिम ज्योतिषियों से सलाह मुस्लिम काल की सामान्य बात थी। हजारों हिंदू ज्योतिषियों को विभिन्न मुस्लिम दरबारों और महलों ने संरक्षण दिया और वे वहां रहते थे।

दूसरे समुदाय के कुछ ज्ञानी लोग और कवि तथा चिकित्सक हर समुदाय के दरबारों तथा शाही परिवारों और अन्य शक्तिशाली परिवारों से लगभग हर समय जुड़े रहे। कानूनी मामलों में भी निकटता रही, तथा धर्म परिवर्तन करने वाले कई लोगों ने पैतृक धन और उत्तराधिकार के मामलों में अपने पुराने प्रचलित कानूनों को साथ रखा। अपने हिंदू प्रतिपादकों की तरह अवध के मुसलमान तालुकदार ब्रिटिश भारतीय कानून में पुनः शामिल ज्येष्ठत्व कानून का पालन करते हैं। खोजा भी उत्तराधिकार के हिंदू कानून का पालन करते हैं। और पिता द्वारा छोड़ी गई

संपत्ति में बेटी के हिस्से के मामले में हिंदू कानून और रीति कि उसे कोई हिस्सा नहीं देना है, को ही कई जगहों पर बनाए रखा गया है।

धर्म परिवर्तित मुसलमानों ने कई बार अपने हिंदू उत्सव बचाए रखे जिससे मुसलमानों में कई नए उत्सव जुड़ गए। इसी तरह कई मुस्लिम उत्सव हिंदुओं ने स्वीकार कर लिए। इस तरह का जुड़ाव स्वाभाविक और न टाले जाने योग्य था क्योंकि निचले स्तर तक से धार्मिक परिवर्तन करने वाले हिंदू अपनी जीवन-पर्यंत आदतों को एकबारगी नहीं त्याग सकते थे, खास तौर से तब जब ये आदतें वातावरण से बनी थीं और उसके अनुकूल थीं। दूसरी तरफ, दूसरे देशों से आए और यहां स्थायी तौर पर रहने का फैसला कर चुके मुसलमान देश के वातावरण और अन्य स्थितियों के दबाव में इसकी कई आदतों को अंगीकार करने को बाध्य हुए। धर्म परिवर्तन करने वाली हिंदू महिलाओं ने मुस्लिम परिवारों में शादियों के बाद भी अपने धार्मिक एवं अर्ध-धार्मिक रीतियों को जारी रखा और इस तरह लगभग हर घर में मुस्लिम जीवन को बहुत हद तक बदल दिया।

युद्धों में मित्रता

मित्रता और आपसी जुड़ाव तथा समर्पण के गहरे भावों ने एकता का रूप प्रकट किया। हिंदू सेनापतियों और सैनिकों ने मुसलमान राजाओं के लिए मुसलमान के साथ-साथ, हिंदू राजाओं के खिलाफ लड़ाइयां कीं और अपने जीवन उत्सर्ग किए। रणथंभौर के राजा हम्मीर और सुल्तान अलाउद्दीन के क्रोध से भाग रहे मुसलमान विद्वान को शरण देने के लिए जीवन और शासन के उसके त्याग की कथा बिरहा और गीतों में गाई गई है; और यह भी कि कैसे हम्मीर की स्मृति में अपनी राजभक्ति के लिए मुसलमान शरणार्थी ने अपना जीवन त्याग दिया क्योंकि जब अलाउद्दीन ने युद्ध के बाद उसे पकड़ने पर उससे पूछा कि अगर उसे जीवन जीने के लिए छोड़ देने की अनुमति दी जाए तो वह क्या करेगा तो उसने कुशलता से उत्तर दिया कि वह अलाउद्दीन के खिलाफ संघर्ष करेगा और दिल्ली के ताज पर हम्मीर के बेटे को बिठाने की हरसंभव कोशिश करेगा। हुमायूं ने अपनी मुंहबोली राजपूत बहन के आह्वान पर अपनी सत्ता दांव पर लगा दी जिसने अपने आदर और स्नेह के रूप में उसे राखी भेजी थी। इस तरह के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

जीवन के अन्य क्षेत्रों में

सामाजिक संबंधों में बहुत गहरी और विश्वासपूर्ण व्यक्तिगत मित्रता बराबर मौजूद रही जैसी कि आज व्यक्तिगत हिंदुओं और मुसलमानों या हिंदू और मुस्लिम परिवारों में मौजूद है; और खास तौर से अपने गांवों में रहने वाले भू-पतियों के घरों में

जहां दूसरे समुदाय के अतिथियों के लिए खास तौर से बनाए कमरे हैं और उनके रहने के तौर-तरीकों के अनुरूप विशेष व्यवस्थाएं हैं। व्यायामशालाएं और अखाड़े, शस्त्रों की शिक्षा और अभ्यास की व्यवस्था लगभग संयुक्त रूप से थी। हिंदू विशेषज्ञों के पास हिंदू के साथ-साथ मुस्लिम शिष्य थे और मुस्लिम विशेषज्ञों के पास मुस्लिम के साथ हिंदू शिष्य थे। दोनों समुदाय एक-दूसरे के उत्सवों में खुलकर भाग लेते थे जिनमें अखाड़ों और शस्त्रों के प्रदर्शन ने बड़ी हिस्सेदारी की। लोगों के आम जीवन में आपसी मतभेदों और संघर्षों के सभी खतरों के खिलाफ यह सबसे प्रमुख और सबसे सुरक्षित रोकथाम का तरीका था क्योंकि इसने समुदायों के बीच मित्रता से अधिक गहरे संबंध को शामिल किया—क्योंकि एक ही गुरु या उस्ताद के शिष्य पूर्वी समाज में भाइयों से अधिक निकट माने जाते थे।

समय-समय पर हिंदू धर्म के अंदर शिष्यों की विशाल संख्या वाले कई गुरु हुए जिन्होंने वैश्विक धर्म के उपदेश दिए—कुछ के नाम लें तो मध्य भारत में कबीर, दक्षिण में नामदेव और तुकाराम, पूर्व में चैतन्य और उत्तर में नानक। उन लोगों ने अनगिनत कठोरता वाली वंशानुगत, बुद्धि-विपरीत, कष्टप्रद, निर्दयतापूर्ण और साथ-साथ अधिकतर अवास्तविक तथा पाखंडी जातियों और उपजातियों को तोड़ने, पूजा का साधारण तरीका अंगीकार करने और दोनों धर्मों से लिए गए विचारों को अपनी शिक्षा और उपदेशों में शामिल कर हिंदू धर्म और इसलाम में संधि कराने की बहुतेरी कोशिश की। हालांकि मानसिक स्थितियों में कुछ छोटी खराबी के कारण ऐसे हर गुरु के अनुयायियों ने एक अन्य संप्रदाय या कहें, एक अन्य उपजाति बना ली, फिर भी बहुत सीमित ही सही, कुछ मेल-मिलाप हासिल हुआ। ऐसे ही एक गुरु के अनुयायी अब भी मक्का और पंढरपुर की समय-समय पर तीर्थयात्रा करते हैं। पश्चिमी तट पर कई अनुयायी वाले स्वामी नारायण संप्रदाय में अब भी हिंदू और मुसलमान—दोनों सदस्य माने जाते हैं और आगाखानियों में कई हिंदू दीक्षित सदस्य। सूफी संप्रदायों के कुछ प्रमुख अब भी कई हिंदू दीक्षित शिष्यों का दावा करते हैं।

मुगल दरबार : नई केंद्रीय एकता का प्रतीक

जीवन की यह एकता और अनुरूपता कमोबेश पूरे मुस्लिम काल में भारत के राज दरबारों में प्रतिबिंबित हुई। लेकिन मुगलकाल में यह इस हद तक विकसित हुई कि महान मुगलों के जीवन दोनों संस्कृतियों की एकता के प्रतीक माने जा सकते हैं। मुगल सम्राट और हिंदू राजा कम-से-कम औपचारिक अवसरों पर तो एक ही किस्म के कपड़े पहनते थे। अकबर और प्रताप सिंह और औरंगजेब तथा शिवाजी के विशाल चित्रों में एक ही किस्म की सिर की पगड़ी और शरीर

के कपड़े दिखते हैं। हम मुगल दरबार और जीवन की कुछ खास बातों के उल्लेख तक अपने को सीमित रखेंगे।

मुगल सम्राट हर सुबह झरोखा-दर्शन के लिए बैठते थे और राजनीतिक एकता के केंद्र तथा दैवीय सुरक्षात्मक शक्ति के प्रतीक के तौर पर वहां अपनी प्रजा से आदर-सत्कार पाते थे। निस्संदेह यह लोगों और शासन प्रमुख के बीच आपसी विश्वास और व्यक्तिगत स्नेह के भाव का अपने आप में पूरा और उचित अतिरिक्त उद्गार था; संभवतः इसे प्रमुख के हिस्से में दैवीय आदर (एक सामान्य अवगुण, उदाहरण के लिए कुछ रोमन सम्राटों के मामले में) की इच्छा के साथ न मिलाया जाए; और निश्चिततः यह लोगों के स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता तथा राजा द्वारा सौंपे गए कार्यों के प्रति उनके भाव को कमजोर करने की ओर प्रेरित था। लेकिन उन दिनों में लोगों के नजरिये से देखें तो जिस तरह ईश्वर पिता थे, उसी तरह सम्राट उसके प्रतीक एवं छाया थे।

यह आदर्शवादिता अधिकांशतः मृत्यु भाव के दोष से लोगों की भक्ति को पृथक करता था क्योंकि यह कोई व्यक्ति नहीं था जिसकी वे पूजा करते थे बल्कि एक आदर्श था। और यह राजाओं के लिए अपने आप से ऊपर उठने के लिए सर्वोत्तम प्रेरक का काम करता था हालांकि कभी-कभी वे ऐसा करने में विफल रहे। इस दूरी से हमारे लिए यह समझना या विश्लेषण करना कठिन है कि किस हद तक यह आदर्शवाद भारत में राजनीति को मानवीय कर सका। लेकिन इन वृहत्तर मुद्दों के अलावा हम इस तथ्य पर यहां जोर देना चाहते हैं कि राजनीतिक एकता के सामान्य प्रतीक के प्रति सामान्य भक्ति दोनों समुदायों के जीवन के लिए एक जोड़ने वाला मूल्य भी था।

सम्राट के सामान्य प्रतीक होने के अतिरिक्त उसकी वेशभूषा और उसका दरबार एक आम जीवन का प्रतिबिंब था जिसमें हिंदू और मुस्लिम तत्व तथा परंपराएं—दोनों अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पाती थीं। उत्सव के अवसरों पर यह सांस्कृतिक एकता पूर्ण और सबसे अधिक दृश्यात्मक अभिव्यक्ति पाती थी। नौरोज पहले 11 और फिर 19 दिन मनाया जाता था। हिंदू, मुस्लिम, पारसी—सभी इसमें भाग लेते थे और राजा इसे जिस पवित्रता और महत्व से मनाता था, उसने समकालीन विश्व इतिहास में बारंबार छाप छोड़ी है।

“आडंबर और महिमा में नौरोज के बाद और नौरोज के ठीक बाद राजा को उसके चंद्र तथा सौर्य जन्मदिनों पर तौला जाता था। वह विभिन्न वस्तुओं के बराबर पहले मौके पर आठ बार और बाद में बारह बार तौला जाता था जिन्हें दरबारियों तथा दरिद्रों के बीच बांट दिया जाता था। आडंबर और उत्सव की कोई सीमा नहीं होती थी।”

“विभिन्न हिंदू और मुस्लिम उत्सव निरपेक्ष क्रम से मनाए जाते थे। राक्षसों

पर राम की विजय की याद में मनाए जाने वाले दशहरा के अवसर पर शाही घोड़ों और हाथियों को सर्वांग कवच के साथ सजाया जाता था और उनका प्रदर्शन किया जाता था। रक्षाबंधन पर हिंदू विद्वान तथा ब्राह्मण राजा की कलाइयों पर धागे बांधते थे। दीपावली के मौके पर महल में जुआ खेला जाता था। शिवरात्रि मनाई जाती थी, मुस्लिम ईद और शब-ए-बरात की भी अनदेखी नहीं होती थी।"[53]

तुला-दान की तरह मुगल राजाओं के व्यक्तिगत जीवन में एक अन्य मजेदार बात थी। मुगल राजाओं को गंगाजल के अतिरिक्त कोई अन्य पानी पीने की आदत नहीं थी और चाहे वे दरबार में हों या शिविर में, घर में या यात्रा में, नियमित आपूर्ति जारी रखने का पूरा विभाग था। भारतीय संस्कृति के तेज के प्रति उत्कट सहानुभूति और विस्तृत समीकरण गाय के बारे में उनके व्यवहार से और आगे बढ़ा। अकबर ने अपने पूरे अधिकार क्षेत्र में गोवध रुकवा दिया और जहांगीर तथा शाहजहां–दोनों ने इसका पालन किया। जहांगीर एक कदम और आगे गया तथा उसने व्यवस्था दी कि उसके राज्य में साल में दो दिन किसी जानवर की हत्या नहीं की जाएगी–यहां तक कि शिकार पर भी कड़ाई से प्रतिबंध लगा दिया गया। ये मानवीय स्पर्श थे जिन्होंने लोगों के दिलों के तार गहरे ढंग से झंकृत कर दिए और शासकों तथा शासित के बीच विचार एवं भावना की ऐसी एकता को जन्म दिया जो जितनी सुंदर है, इतिहास में उतनी ही विशिष्ट है।

दो संस्कृतियों के मिलन को लेकर मुगल सम्राटों के जीवन जहांगीर के बाद से उनकी रगों में बहने वाले खून से भी अधिक निकट प्रतिबिंबित हुए। अकबर ने कुलीन वंश और परंपरा की कई हिंदू राजकुमारियों से शादी की थी। खुद एक हिंदू रानी के बेटे जहांगीर की कई हिंदू पत्नियां थीं जिनमें अंबर के राजा भगवानदास की बेटी मन बाई उसकी सबसे अधिक प्रिय थी।

"1604 में उसकी आत्महत्या (उसकी 1585 में शादी हुई थी) ने सलीम को गहरे दुख में डुबो दिया। पूरे चार दिनों तक न भोजन का एक कौर, न पानी का एक घूंट उसके कंठ के नीचे गया। कुछ समय के लिए उसकी पीड़ित आत्मा के लिए जीवन का कोई आकर्षण नहीं रह गया। जब दो साल बाद उसकी सटीक 'प्रतिभा, उसकी श्रेष्ठता और अच्छाई तथा उसके प्रति उसके सर्वस्व समर्पण' का वर्णन करने की उसने कोशिश की तो उसे शब्द नहीं मिल रहे थे।"[54]

उसने आत्महत्या की क्योंकि उसके बेटे खुसरो ने उसके पति के खिलाफ योजना बनाई और इस योजना में उसके अपने भाई माधो सिंह ने उसके बेटे का पक्ष लिया। वह अपने पति को नष्ट करने के लिए अपने बेटे और अपने

53. "हिस्ट्री आफ जहांगीर", बेनी प्रसाद, पृ. 99, 100
54. "हिस्ट्री आफ जहांगीर", बेनी प्रसाद, पृ. 29

भाई के हाथ मिलाने के विचार को बर्दाश्त नहीं कर सकी।

जहांगीर का उत्तराधिकारी शाहजहां उदयपुर की जोधा बाई या जगत गोसाईं का बेटा था।

शाही घरों के साथ-साथ दरबारों में हिंदू और मुस्लिम औरतें और राजकुमारियां लगभग समान संख्या में एक साथ रहती थीं और इस तरह का निकट सहयोग दोनों समुदायों के संबंध पर गहनतम प्रभाव उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकता था।

राजकुमारों की शिक्षा और प्रशिक्षण अधिकांशतः उदार स्तर की थी और जीवन में स्वभावगत अंतर और दुर्घटनाएं एक ही मां के बेटों—दारा और औरंगजेब में बिल्कुल विपरीत दृष्टि के लिए उत्तरदायी थीं। फारसी कथा लेखकों द्वारा खींचा गया दारा का चित्र दिखाता है कि वह किस हद तक हिंदू संस्कृति से तर-बतर था।

दारा का चरित्र और विचार

"अपने बाद के दिनों में दारा शिकोह खुले विचार और धर्म विरुद्ध मतों से अपने आपको नहीं रोक पाया जो उसने तसव्वुफ (सूफी मत) के नाम के अंतर्गत स्वीकार किया था लेकिन हिंदुओं के धर्म और संस्थाओं के लिए झुकाव उसने प्रदर्शित किया। वह ब्राह्मणों, योगियों तथा संन्यासियों के लगातार संपर्क में था और वह माया के इन विचारणीय गुरुओं को विद्वान और विवेक के सच्चे मालिकों के तौर पर आदर देता रहता था। वह उनकी किताबों जिसे वे लोग वेद कहते हैं, को ईश्वर के शब्द और स्वर्ग से उतरी वाणी मानता था और वह उन्हें प्राचीन तथा विलक्षण पुस्तकें कहता था। वह इस वेद के बारे में इस तरह की माया में था कि उसने देश के सभी हिस्सों में ब्राह्मणों और संन्यासियों को एकत्र किया और बहुत आदर और सम्मान देते हुए उसने वेद के अनुवाद के लिए उन्हें नियुक्त किया। उसने इस अधर्मी कार्य में अपना पूरा समय लगाया और इन नीच किताबों की बातों पर अपना पूरा ध्यान लगाया। ईश्वर के पवित्र नाम की जगह उसने हिंदू नाम प्रभु (परमपिता) स्वीकार किया जिसे हिंदू पवित्र मानते हैं और उसने हीरे, माणिक, मूंगा आदि की अंगूठियों पर देवनागरी में यह नाम खुदवा लिए; इन विकृत विचारों के जरिये उसने कानून द्वारा निर्धारित प्रार्थनाएं, उपवास और अन्य चीजें छोड़ दी थीं। यह स्पष्ट हो गया कि अगर दारा शिकोह को गद्दी मिल गई और उसने सत्ता कायम कर ली तो धर्म की नींव खतरे में पड़ जाएगी और इस्लाम की मर्यादाएं नास्तिकता और यहूदी धर्म के बकवाद में परिवर्तित हो जाएंगीं।"[55]

55. "हिस्ट्री आफ इंडिया", सर एच. इलियट, वोल्यूम VII, पृ. 179

जैसा राजा, यथा प्रजा। और मुगलों के शाही दरबार तथा उनके सांस्कृतिक एवं भावनात्मक जीवन की अनुरूपता अपने आप में प्रतिबिंब और लोगों में चल रही एकता और सांस्कृतिक मिश्रण का प्रतिबिंबन केंद्र था।

आध्यात्मिक एकता

इस तरह की जीवन की एकता और प्रेरणा गहरे नैतिक और आध्यात्मिक लय के बिना भारत जैसे गहरे धार्मिक प्रवृत्ति वाले देश में संभव नहीं हो सकती थी। जैसा कि हमने देखा है, इस्लाम ऐसे समय में भारत आया जब प्रतिक्रियावादी परिवर्तन-विरोध ने बौद्ध और जैन धर्मों को पराजित कर दिया था और कठोर पैतृक सामाजिक व्यवस्था तथा इससे जुड़ी सभी चीजों की प्रार्थना के तरीकों को पुनः जिंदा करने की कोशिश कर रहा था। बौद्ध धर्म का गहरा पक्ष भारत की जनता को प्रभावित नहीं कर सका क्योंकि यह बहुत अधिक आध्यात्मिक था। निस्संदेह, यह लोकप्रिय रूप में भी प्रस्तुत किया गया लेकिन अपने बौद्धिक, भावनात्मक और रहस्यात्मक पक्षों के तौर पर महायान भारत के अन्य महान धार्मिक विश्वासों से बहुत अधिक अलग या बेहतर नहीं था। लेकिन भले ही नाम और रूप में भारत ने बौद्ध धर्म त्याग दिया, इसने अपने आप में इसकी आध्यात्मिक और नैतिक चेतना और पुनर्जीवित वेदांत और गीता के ज्ञान-योग, भक्ति-योग तथा कर्म-योग के रूप में उच्च एवं विस्तृत आध्यात्मिक उत्कंठाओं और दुर्भाग्यवश रंगबिरंगी मूर्ति-पूजा के रूप में बुद्ध प्रतिमा आराधना भी समाहित और अंगीकार कर ली। इसने जीवन की सामाजिक एकता शामिल नहीं की जिसका बौद्ध धर्म ने उपदेश दिया था लेकिन उसकी प्रतिभा की आध्यात्मिक विचार के लिए खोज जारी रही जो सभी धार्मिक अलगावों को समाप्त तथा अपनी धार्मिक व्यवस्थाओं को सामान्य सांचे में ढाल सके। भारत में इस्लाम के प्रवेश से ठीक पहले पुनर्जीवन अभियान की यह शक्तिशाली प्रवृत्ति त्रिमूर्ति के पुराने महान विचार पर जोर दे रही थी जो तीन देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश को समान दिव्यता के तीन पक्ष (सत्, चित्, आनंद या वजूद, इल्म, श्हूद) के रूप में प्रतिनिधित्व करते थे। भारम में इस्लाम के प्रवेश के ठीक पहले या बाद महान शंकर का जन्म हुआ जो अपने युग के गहनतम विचारकों में थे। शंकर ने वेदांत के ज्ञान को नए ढंग से व्यवस्थित किया और अपने देश की प्रतिभा को मन की भावना-संबंधी मिश्रण और आध्यात्मिक सिद्धांत दिए जिसे वह पुनः खोजने का संघर्ष कर रहा था। उन्होंने ठोस दार्शनिक आधार पर अपनी रचना को प्रस्तुत किया और खोजी गई धर्म पुस्तकों की बातों के आधार पर लकीर के फकीर वाली स्थिति का समाधान और तर्कहीन कर दिया। शंकर ने दिखाया कि धार्मिक मान्यताओं और आराधना के तरीकों में भिन्नता वेदों की गलत समझ और इनकी गलत ढंग से व्याख्या की

वजह से है, और कि सनातन धर्म ने एक परमात्मा-ब्रह्मांड के रचयिता और पालक की आराधना पर सब दिन जोर दिया; कि उसकी आराधना सच्ची आराधना है और शेष सब भ्रम है। शंकर के जाज्वल्यमान अद्वैतवाद (या वेदांत) की मुहम्मद के एक ही ईश्वर में विश्वास (या ब्रह्मवाद) से भ्रातृ-सदृश समानता थी और दोनों व्यवस्थाओं में कुछ भी नहीं था जो एक-दूसरे का अस्वीकार कर सकें।

ला मौजुदा इला हु : सर्वम् खलविदम् ब्रह्म;
वहादाहु ला शरिका लहु : एकम वध वितियम्।

हिंदू और मुस्लिम संत[56]

जैसे ही सिद्धांत की खोज की गई और उचित रूप में लोगों के सामने इसे रखा गया, भारत की प्रतिभा ने जीवन के व्यावहारिक कार्यों में इसके उपयोग पर विचार करना आरंभ कर दिया। भारत अपने लोगों पर आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों के जरिये नहीं बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक विचारों के जरिये काम करता है तथा इस कारण जीवन की समस्याओं के प्रति उसके नजरिये बौद्धिक नहीं, भावनात्मक होते हैं। शंकर के बाद, दो शताब्दी या लगभग इतना ही, एक अन्य गुरु और उपदेशक रामानुज ने शंकर के वेदांत को भक्ति रूप दिया। दैवीय सिद्धांत की पूजा भारतीय जनता की प्रबल उत्कंठा ब ा गई। इस आंदोलन ने विचार के भक्ति समुदाय की प्रधानता में धर्मनिष्ठा के अपने उत्साह और स्थापित आचार और जाति बंधनों के लिए अपने (कम-से-कम सैद्धांतिक) प्रतिकार के साथ अपनी भावनात्मक अभिव्यक्ति पाई। सूफी मन के जरिये इस्लाम इसी पंक्ति पर अपना भावनात्मक पक्ष विकसित कर रहा था; और यहां दो व्यवस्थाओं का मिलन इतना पूर्ण हुआ कि इन लोगों ने एक-दूसरे में अपने आपको वस्तुतः खो दिया। नई पाई एकता की प्रसन्नता ने सभी सामाजिक और धार्मिक अवरोधों को अतिक्रमित कर दिया और भावनात्मक पक्ष के जरिये भारत उस सामाजिक एकता की पहचान के निकट पहुंच गया जिसे बौद्ध धर्म ने बौद्धिक पक्ष से प्राप्त करने को कहा था। हमारे हजारों भजन गायक दैवीय एकता तथा मानवीय भाईचारे के अपने गीतों के साथ देशभर में घूमे। कई संत—हिंदू और मुसलमान, इसी तरह के संदेश के उद्‌बोधन करते हुए एक से दूसरी जगह घूमते रहे। कई गुरु और पीर देश के हर कोने में बस गए जिनके पास लाखों हिंदू और मुस्लिम शिष्य नैतिक तथा आध्यात्मिक निर्देश के लिए बिना भेदभाव जाते थे। शंकर के बाद दोनों समुदायों के विद्वान और उच्चतर वर्गों के बीच उपस्थित बौद्धिक समझदारी तथा सहानुभूति इस तरह भारतीय समाज के निम्नतम स्तर तक भावनात्मक पक्ष के जरिये ले जाई गई।

---

56. "यह हिस्सा मेरे विचार का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।—मौलाना जफरुल-मुल्क

यह स्वाभाविक था कि मानवीय जीवन की आधारभूत एकता की पहचान के बाद धार्मिक भाव और गहरी अभिलाषा का यह आधिक्य अपने आप सभी धर्मों के औपचारिक पक्ष के खिलाफ उठ खड़ा होने की शुरुआत होनी चाहिए थी। मानव जीवन की प्रवृत्ति है कि एक तरफ यह क्षमताओं का अलगाव करता है और दूसरी तरफ आदमी को आदमी से और समूह को समूह से अलग करने वाले सभी अवरोधों—चाहे वह सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक हो, को पाट देता है। धर्म जिसका लक्ष्य इन अवरोधों को नष्ट करता है, थोड़े दिनों बाद खुद अवरोध और सबमें सबसे अधिक दृढ़ तथा अविनाशी बन जाता है। अपने रचयिता के साथ मिलन के लिए संघर्षरत आत्मा, अपनी कड़ी नियम निष्ठता और समूह-अवरोधों वाला निर्जीव धर्म स्वाभाविक तौर पर रुकावट और प्रतिबंध तथा सभी सामाजिक विभेद और प्रभेद भ्रष्ट ईश-निंदा लगेंगे। जिसकी रचना की गई है, वह वस्तुतः रचयिता से अलग नहीं हो सकता और इसलिए इस नैतिक एवं आध्यात्मिक एकता को घेरने वाली कोई भी सीमा सहन नहीं की जा सकती। इस तरह की सीमाएं जैसा कि इन्हें होना चाहिए, जीवन के अपने नियम का नकार हैं। सभी वर्गों और समूहों का अतिक्रमण करने वाली एकता तथा वास्तविक मानवीय भाईचारे—बिना धर्म, बिना जाति, बिना आराधना, उन सबके बिना जो विभाजन करती है—के अपने सामाजिक आदर्श विचार की उत्कंठा ने कई शक्तिशाली व्याख्याकार पाए। अपनी आध्यात्मिक बाढ़ और इससे भी अधिक अपने समर्पित जीवन के उदाहरण के प्रभाव के जरिये इन निहाल हो चुके संतों और संन्यासियों ने इस संदेश को जनता में फैलाया और भारतीय समाज के हर वर्ग में इसकी भावना को प्रविष्ट कराया। कबीर ने यह महान आंदोलन अपने चरम पर पहुंचाया और लोगों के दिमाग पर इसके प्रभाव की इस तथ्य से कल्पना की जा सकती है कि लाखों हिंदू और मुस्लिम कबीर के अनुयायी बन गए।

कबीर का सम्मिलन[57]

"उन्होंने हिंदुओं को दिखावा, बलि, जादुई शक्तियों के प्रति आकर्षण, मूर्तियों, देवी और देवताओं की पूजा, ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता, जाति-भेदों, छुआछूत और खान-पान से संबंधित पूर्वाग्रहों को त्यागने को कहा जिन पर बुद्ध के दिनों से हर सुधारक ने जोर दिया था। उन्होंने अवतारों के सिद्धांत की खुलकर निंदा की। 'रचयिता ने सीता से विवाह नहीं किया, न पानी के ऊपर पत्थर का पुल बनाया था। वह लोग कहते हैं कि कमजोर और मजबूत की असमानता देखकर विश्व का स्वामी राम के रूप में आया। लेकिन कबीर कहता है, एक ऐसे राम, जिसने

57. "मैं कबीर या अकबर या उन सबके मन का समर्थन नहीं करता जिनके विषय में यहां लिखा गया है।—मौलाना जफरूल-मुल्क

जन्म लिया और जिसकी मृत्यु हुई, के सामने मैं अपना सिर नहीं झुका सकता।'

"उन्होंने मुसलमानों से अपनी निषेधता, नियमों के पालन में अपना बहिर्भाव, मक्का के लिए हज, रोजे और नियमबद्ध नमाज, संतों (औलिया और पीरों) और पैगंबर की अपनी प्रार्थना त्यागने को कहा।

"वह हिंदुओं और मुसलमानों—दोनों से सभी जीवित प्राणियों के प्रति आदर रखने और हत्या से अलग रहने को कहते हैं। वह दोनों से जन्म हो या पद—किसी भी तरह का अभिमान त्यागने, संन्यास और सांसारिक लोभों के प्रति मोह छोड़ने तथा जीवन को समर्पण मानने को कहते हैं।"

''मैं अपनी आंखें नहीं मूंदता, मैं अपने कान बंद नहीं करता, मैं अपने शरीर को अपमानित नहीं करता : मैं अपनी खुली आंखों से देखता हूं, मुस्कराता हूं और हर जगह उसका सौंदर्य निहारता हूं।

" 'मैं जो भी करता हूं, यह उसकी प्रार्थना बन जाता है। मैं जो कुछ भी हासिल करता हूं, उसकी सेवा है।'

"वह बार-बार दुहराते हैं कि हिंदू और मुसलमान एक हैं, वे लोग एक ही परमात्मा की पूजा करते हैं, वे लोग एक ही पिता के बच्चे हैं और वे लोग एक ही खून से बने हैं। 'सभी स्त्री और पुरुष जिनकी रचना की गई है, तुम्हारे रूप हैं, कबीर अल्लाह और राम का बेटा है। वह (पिता) उसका गुरु और पीर हैं।' और 'हिंदुओं और तुर्कों का एक मार्ग है जिसकी ओर सच्चे गुरु ने इंगित किया है; कबीर कहते हैं, 'सुनो ए संतो! राम या खुदा कहो, जो समझते हैं, उनका एक ही धर्म है—चाहे वह पंडित हो या शेख।'

"हिंदू धर्म और इस्लाम की संधि कराने का कबीर का प्रयास पहली कोशिश थी। दक्षिण के गुरुओं ने मुस्लिम तत्वों को ग्रहण कर लिया था लेकिन केंद्रीय धर्म, एक मध्य मार्ग की घोषणा करने के लिए सीना ठोककर आगे आने वाले कबीर पहले थे और उनका आह्वान पूरे भारत के लिए था जिसे सैकड़ों स्थानों से दुहराया गया। उनके अनगिनत हिंदू और मुस्लिम अनुयायी थे और आज उनके पंथ की संख्या लाखों में है। बनारस के कबीर चौरा में वे लोग हर साल जमा होते हैं और मगहर में उनकी स्मृति जीवित रखने के लिए मुस्लिम अनुयायी एकत्र होते हैं। लेकिन उनके अनुयायी होने की संख्या उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, उनका प्रभाव महत्वपूर्ण है जो पंजाब, गुजरात, बंगाल तक है और मुगलकाल के दौरान इसका बढ़ना जारी रहा, जब तक एक चतुर शासन ने इसका मूल्य सही ढंग से आंकते हुए इसे शासन द्वारा अनुमोदित धर्म के तौर पर स्वीकृत करने का प्रयास किया। अकबर का दीन-ए-इलाही एक निरंकुश शासक में तरंग उठने जैसा अलग-थलग नहीं था जिसमें इतनी अधिक शक्ति थी कि वह नहीं जानता था कि इसका उपयोग कैसे किया जाए बल्कि यह उन शक्तियों का

न टाले जाने योग्य परिणाम था जो भारत के वक्षस्थल में गहरी लहरें उठा रहे थे और कबीर जैसे लोगों के उपदेशों में अभिव्यक्ति पा रहे थे। परिस्थितियों ने उस प्रयास को पराजित कर दिया किंतु प्रारब्ध अब भी उसी लक्ष्य की ओर इंगित करता है।"[58]

इस तरह, जब तक हम मुगल काल पहुंचते हैं, भारत ने अपनी संस्कृति के अनुरूप और अपनी जरूरतों के योग्य नए तरीके में जीवन के अपने प्राचीन दर्शन को पुनर्जीवित कर लिया था। जैसा कि हमने देखा है, यह जीवन अपने आपको सभी दिशाओं में फैला रहा था और उन सामाजिक अवरोधों को तेजी से तोड़ रहा था जिसने पहले इसे विभाजित कर रखा था। भारत ने व्यक्तित्व का विस्तार किया था और अपनी आत्मा की पूर्णता में पूर्व की सभी संस्कृतियों के आध्यात्मिक आलिंगन के लिए अपने हाथ फैलाए हुए था। इस्लाम के साथ अपने संपर्क ने उसकी नैतिक चेतना, सहानुभूति और आकांक्षाओं को विस्तृत कर दिया था। उसका तेज अपनी क्षेत्रीय सीमाओं पर अब नहीं रुक सकता था बल्कि अपनी नैतिक गहराइयों के कारण एक मिश्रण सफलतापूर्वक तैयार कर रहा था जो राष्ट्रीयता की सीमाओं और यहां तक कि अपने आप में सभी औपचारिक धर्म का अतिक्रमण कर देता।

"जब मध्यकालीन भारत का वास्तविक इतिहास लिखा जाएगा, यह देखा जाएगा कि पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों के बारे में आधारभूत तथ्य पुराने मत और फार्मूले के खिलाफ विरोध की प्रबल शक्ति थी जिसके परिणामस्वरूप परम आत्मा के साथ सीधे संवाद का धर्म उभरा। तब इस्लामी सूफी मत और हिंदू भक्ति की तरंगों ने मिलकर एक शक्तिशाली धारा बहाई जिसने पुराने निर्जन खेतों में खाद का काम किया और देश के चेहरे को परिवर्तित कर दिया। अकबर के जन्म से पचास साल पहले भारत के महानतम संतों में से एक, गरीब मुस्लिम जुलाहे कबीर ने तर्क और आक्षेप, उपहास तथा दिल्लगी के साथ वर्तमान हिंदू धर्म और इस्लाम की भूसी अलग कर दी थी और समर्पित अनुयायियों का समूह बनाया था एवं अपने पीछे न सिर्फ अपना बड़ा पंथ बल्कि धार्मिक विचारों और भावनाओं की शक्तिशाली ऐंठन छोड़ गए थे। हिंदू मोची रैदास, नाई सेना, जाट धन्ना और सत्ताधारी राजा पीपा ने जीवंत व्यक्तिगत ईश्वर में जीवंत व्यक्तिगत विश्वास के सुसमाचार की घोषणा करते हुए उनका अनुसरण किया। नानक ने नई सुधारवादी राहों पर सिखों का समुदाय तैयार किया। इसी तरह सोलहवीं शताब्दी में कुछ मुस्लिम संत और सुधारक हुए जिन्होंने परंपरा और सोच के पारंपरिक तरीकों को छोड़ दिया और भक्ति के सर्वोच्च महत्व पर जोर दिया।"[59]

58. "इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर", डा. तारा चंद
59. 'हिस्ट्री आफ जहांगीर', बेनी प्रसाद, पृ. 38-39

आंदोलन को अकबर की मान्यता

अकबर के समय में इस आंदोलन को शाही मान्यता प्राप्त हुई और राष्ट्रीय चेतना में एकता आई जो झोपड़ी से राजसत्ता तक थी। अकबर का इसे नए धर्म को रूप देने का प्रयास विफल होना ही था क्योंकि धर्मों की रचना राजनीति के जरिये नहीं की जा सकती और इसलिए भी कि सभी धार्मिक नियम निष्ठाओं का अतिक्रमण कर इनकी सुगंध को समाहित करने वाले आंदोलन को नए बंधन में नहीं समेटा जा सकता, भले ही इसे सोने में लपेटा जाए और हीरे में जड़ा जाए। लेकिन इस मान्यता के बाद राजनीति इसके मार्ग में बाधा नहीं बन सकती थी और हम पाते हैं कि पूरे मुगल काल के दौरान, भले ही थोड़े समय, कुछ हद तक औरंगजेब द्वारा इसे रोका गया, आंदोलन का बढ़ना और गहरा होना जारी रहा। इसकी शक्ति ऐसी थी कि औरंगजेब ने आधे-अधूरे तरीके से और अपेक्षाकृत स्वयं पर नियंत्रण रखते हुए हठधर्मिता निभाई। और उसके शासन के अंत में इस पर अवरोध के बावजूद राजनीति की चिहुंक सामाजिक जीवन के सम्मिलन को नहीं रोक सकी और हिंदू-मुस्लिम संबंध 1857 के स्वतंत्रता के युद्ध तक समान रूप से जारी रहा।

1857 तक

हम आगे जा सकते हैं और कह सकते हैं कि यहां तक कि राजनीतिक सम्मिलन भी गंभीर रूप से नहीं बिगड़ा। राजनीतिक एकता के प्रतीक बहादुर शाह के प्रति उठी राजभक्ति और समर्पण की संपूर्ण लहर ने इतिहास में पहली बार साफ तौर पर दिखाया कि भारत में राजनीतिक तौर पर आत्म-चेतना आ गई है और कि भारतीय राष्ट्रीयता की नींव सच्चे ढंग से और गहरे रूप में डाल दी गई है। स्वतंत्रता-युद्ध के समय एक शताब्दी से अधिक समय तक ब्रिटिश कूटनीति सांघातिक तरीके से काम कर रही थी लेकिन तब भी हिंदू-मुस्लिम एकता ने अपनी जमीन बनाए रखी। इस युद्ध के बाद हालांकि अब इंग्लैंड दोनों के बीच खड़ा हो गया और उसने अपने पूरे पराक्रम से उन्हें अलग करने की कोशिश की, तब व्यग्रता के बाद भी हिंदुओं और मुसलमानों के सामाजिक संबंध हाल के दिनों तक निकट और मित्रवत जारी रहे। और अब भी भारतीय राज्यों में हम पुराने दिनों के जीवंत चित्र पा सकते हैं जहां दोनों समुदाय ब्रिटिश सत्ता वाले भारत में दुखद रूप से प्रमुख अविश्वास और कड़वाहट के बिना पूरे मित्रभाव से साथ-साथ रह रहे हैं।

हमने उन विस्तृत रेखाओं की ओर संकेत किया है जिन पर मुस्लिम काल के दौरान भारत का विकास हुआ। हमने देखा कि इस पूरी अवधि के दौरान हिंदुओं और मुसलमानों ने देश की सामाजिक तथा राजनीतिक संरचना के विकास

में किस तरह मिल-जुलकर काम किया। जिस तरह आर्य पहले से मौजूद भारतीय संस्कृति में मिश्रित हो गए थे और उन्होंने एक नई बेहतर तथा ज्यादा सुंदर संस्कृति को जन्म दिया, उसी तरह इस्लाम भी इस अवधि के दौरान अपनी नई पाई मां के भंडारों की जोड़ने वाली संपत्तियों को सामने लाया और दोनों की एकता से ऐसा महल तैयार हुआ जिसके गौरव ने उन सबको पीछे छोड़ दिया जो पहले देखा गया था। निस्संदेह, वह गौरव छूट गया है और भारत के बेटे अब इस गौरव को नहीं देखते। वे कुछ अपरिचितों द्वारा किए गए उनके पतन पर शर्मसार हैं। वे आपसी मतभेदों से उस शर्म को मिटाने की कोशिश कर रहे हैं। पराजित सेनापतियों की तरह वे अपने प्रारब्ध के अस्थिर मोड़ के लिए एक-दूसरे पर आरोप लगा रहे हैं। उनकी आत्मा की वर्तमान कड़वाहट इतिहास पर अपनी छाया छोड़ देती है और कलुष बढ़ाती है और वे उस बड़ी संतुष्टि से मुड़ रहे हैं जो उन्हें आह्लादित कर सकती है और उस बड़े प्रकाश से दूर हट रहे हैं जो उन्हें वर्तमान अंधकार में रास्ता दिखा सकता है।

अभी की जरूरत

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसमें हमारा प्रयत्न और हमारी आशा उनके दिलों और उनकी आंखों को उस संतुष्टि तथा उस प्रकाश की ओर फिर मोड़ना है। यह ऐसी सच्चाई है जिस पर दिल बैठाने का कोई कारण नहीं है। भारत के साथ अपने संघर्ष में इंग्लैंड सफल नहीं हुआ है। उसने कुछ समय के लिए निस्संदेह भारत पर भौगोलिक तौर पर कब्जा कर लिया है लेकिन वह भारत की आत्मा की नैतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं को वस्तुतः एवं स्थायी तौर पर सीमित करने पर सफल नहीं हुआ है। भारत की नैतिक ऊर्जा उस परीक्षा से गुजर गई है और आधी शताब्दी की छोटी अवधि में उसने अपने विशिष्ट तरीके से अपने आपको स्थापित करना आरंभ कर दिया है जो विश्व को चकित कर रहा है। निःशस्त्र, असंगठित, पश्चिमी विज्ञान के सभी सैन्य आविष्कारों के आच्छादन और पश्चिमी कूटनय की डरावनी चालाकियों के खिलाफ खुद बंटे होने के बावजूद भारत खुद कोशिश कर रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य की नींवें हिला रहा है। इसकी कोशिश विश्व को आध्यात्मिक तौर पर अच्छी अवस्था में लाना है क्योंकि अगर इसका नैतिक आश्रय यूरोप के भौतिक आश्रय को नष्ट कर देता है, पूरे विश्व से शस्त्रों की होड़ नष्ट हो जाएगी और दास बना भारत विश्व के महान मुक्तिदाता के तौर पर उभर जाएगा। समय की जरूरत इतिहास को देखने, वहां से सम्मिलन की प्रक्रियाओं को पकड़ने की है जहां से वे टूट गई हैं, सांप्रदायिकता को नष्ट करने की है और देश के अविध्वंसी नैतिक तथा आध्यात्मिक स्रोतों को खींचने की है।

अपनी रिपोर्ट के मुस्लिम काल से संबंधित इस हिस्से को समाप्त करने से पहले हम दुहराना चाहते हैं कि हमने बारह शताब्दियों का इतिहास लिखने की कोशिश नहीं की है। हमारा मुख्य उद्देश्य संबंध की प्रकृति की मोटी रूपरेखा बताने का रहा है जो ब्रिटिश अवधि से पहले के समय हिंदुओं और मुसलमानों के बीच रही है। हमें हमारे प्रयासों की कमी का दुख के साथ अहसास है। हमने जो चित्र खींचा है, कुछ लोगों को वह अतिरंजित लग सकता है लेकिन इसे वर्तमान इतिहास की पुस्तकों में इस काल के आमतौर पर पाए जाने वाले एकपक्षीय चित्रों में कम-से-कम पूरक और संशोधक तो माना ही जा सकता है। हमने हिंदू-मुस्लिम संबंधों के रचनात्मक पक्षों पर जोर दिया है क्योंकि हम इन पक्षों की ओर जनता का ध्यान खींचना चाहते हैं। निस्संदेह, सच्चे दृष्टिकोण के विकास से पहले बहुत संशोधन, जोड़ और संतुलन आवश्यक है लेकिन शुरुआत जरूरी है और हमने बस वह शुरुआत करने की कोशिश की है।

इस तरह, यह ध्यान देने की बात होगी कि सभी मुख्य विचार जो अभी बढ़े हुए हैं और जिन्होंने दोनों समुदायों को अंततः विभाजित कर दिया है—उदाहरणार्थ, जो प्रश्न, रामलीला और मोहर्रम तथा अन्य धार्मिक अवसर या जुलूस, मस्जिद के सामने संगीत, नगरपालिकाओं और परिषदों की सेवाओं में प्रतिनिधित्व का प्रश्न, संयुक्त और अलग-अलग मतदाता समूह, संरक्षाएं, राज्यों का पुनर्विभाजन और संविधान का आधार—ये सभी प्रश्न मुस्लिम काल के दौरान न तो उठे और न उठ सकते थे। ये सभी ब्रिटिश काल और ब्रिटिश नीति की उपज हैं। अगले भाग में हम इनके जन्म और विकास की परिस्थितियों की ओर संकेत करने की आमतौर पर कोशिश करेंगे।

5

आकार लेती योजना

1815 तक संबंध

मुस्लिम काल का हमारा सिंहावलोकन दिखाता है कि वर्तमान स्वरूप में जिस तरह की हिंदू-मुस्लिम समस्या है, वह वस्तुतः हाल की पैदाइश है और दोनों समुदायों की धार्मिक तथा सामाजिक भिन्नताओं से इसका बहुत थोड़ा लेना-देना है। (क) एक-दूसरे के लंबे समय तक पड़ोसी रहने और एक-दूसरे की उपस्थिति तथा उनके मार्गों से परिचित होने, एवं (ख) दोनों धर्मों के संतों के एकता-संबंधी उपदेशों के परिणामस्वरूप दोनों समुदायों ने अपने तनाव अधिकांशतः दूर कर लिए थे और राजनीति, व्यापार, व्यवसाय और दैनंदिन सामाजिक जीवन में मित्रवत आपसी सामंजस्य तथा निकट सहयोग करने लगे थे। 1815 का एक आधिकारिक अंग्रेजी प्रकाशन "हैमिल्टंस गैजेटियर" बताता है : "दोनों धर्म इतने लंबे समय तक एक साथ रहे हैं कि दोनों के व्यवसायी एक-दूसरे की सहिष्णुता अनुग्रह के साथ देखने के आदी हो गए हैं जो अन्य देशों में अस्वाभाविक है।"

साफ है कि आठ शताब्दियों से अधिक समय तक दोनों समुदायों के लोग जब पूरी तरह शांतिपूर्वक साथ-साथ रहे और बढ़े तो वे लोग अचानक अपने आप संघर्ष और विरोध में नहीं लग गए, वह भी अपने लिए इतने विनाशकारी और अपने दुश्मनों के लिए इतने मददगार। तब यह समस्या जन्मी किस तरह? इस समस्या को जन्म देने वाले वास्तविक सामाजिक एवं राजनीतिक कारणों की खोज के लिए हमें अन्य कारकों के साथ ब्रिटिश प्रशासन की पूरी अवधि और खास तौर पर 1857 की लड़ाई के साथ ब्रिटिश नीति के गुप्त प्रभावों का अध्ययन करना होगा क्योंकि वे सीधे-सीधे हिंदू-मुस्लिम समस्या से संबंधित हैं।

पलासी के संघर्ष के बाद 1757 में ब्रिटेन ने बंगाल में पैर जमा लिए। 18वीं शताब्दी के अंत तक वे लोग अपनी स्थिति मजबूत करने और नए गठबंधनों तथा लाभों को बनाने में जुटे रहे। जहां तक बंगाल की जनता का सवाल था, इस अवधि के दौरान उन लोगों का मुख्य लक्ष्य राजस्व की वसूली और व्यापार या अन्य तरीकों से हरसंभव अधिक-से-अधिक पैसा बनाना था। ईस्ट इंडिया कंपनी

के दिनों के दौरान कंपनी का मांग पत्र समय-समय पर नया किया गया और हर नवीनीकरण में पिछली अवधि की समीक्षा संसदीय समिति ने की तथा चार्टर बिल की प्रस्तुति के समय संसद में भारत से संबंधित महत्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श हुआ। 18वीं और 19वीं शताब्दी के शुरुआती छह दशकों के लिए, संसदीय समितियों की कार्यवाहियों में भारतीय नीति के संदर्भ में बहुत कुछ पाया जा सकता है। इन समितियों में की गई बहस उनके कब्जे वाले भारतीय राज्य के संबंध में ब्रिटिश दिमाग के कामों के सबसे अच्छे प्रमाण हैं।

भारत में ईसाई मन के प्रचार के संबंध में ब्रिटिश नीति

1793 में श्री ग्रांट ने, जिनका हृदय "भारत में ईसाई मन के प्रचार" का निश्चय कर चुका था, भारत में मिशनरी काम जारी रखने और अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएं शुरू करने से संबंधित धाराएं चार्टर बिल में जोड़ने के लिए कंपनी के निदेशकों को सफलतापूर्वक प्रेरित किया। यह जानना कई लोगों के लिए आश्चर्यजनक होगा कि इस अवधि तक ब्रिटिश सत्ता ने भारत में ईसाई मिशनों को काम करने की अनुमति नहीं दी थी और हालांकि ग्रामीण नगरपालिका व्यवस्था की समाप्ति तथा अन्य विद्यालयों से अनुदानों की वापसी के जरिये शिक्षा की स्वदेशी व्यवस्था नष्ट कर दी गई थी, लोगों को प्राथमिक या सेकेंडरी शिक्षा प्रदान करने के लिए कोई सुविधा न तो दी गई थी या न इसकी व्यवस्था की गई थी। 1793 में जब ब्रिटिश संसद के सामने मिशनों और शिक्षा का सवाल आया, गर्मागर्म बहस हुई और इससे संबंधित धाराए बिल से अंततः हटा दी गईं। इस बहस के सार की रिपोर्ट वूडफौल ने की है। हम नीचे उन तर्कों को पेश करते हैं जिसने इस फैसले तक पहुंचने में संसद को प्रभावित किया। हम सिर्फ उसे उद्धृत कर रहे हैं जिसे वूडफौल ने "स्पेसिफिक आर्गुमेंट्स फर्स्ट क्लास" शीर्षक के अंतर्गत दिया है।

"कि योजना बहुत खतरनाक और अनुचित होगी; यह हमारे अधीन राज्यों की शांति और अंततः सुरक्षा को प्रभावित करेगी, यह हमारी गतिविधियों को वहां सांघातिक तरीके से क्षति पहुंचाएगी और कमजोर करेगी, यह या तो गड़बड़ियां पैदा करेगी या ईसाई धर्म के लिए अवमानना का काम करेगी। एक पंथ या धर्म को धारण करना मानव जाति के लिए सबसे मजबूत कारण है और यह आंदोलन यदि भारत में होता है तो यह ब्रिटिश सर्वोच्चता का अंत होगा।"

"कि एक पंथ से दूसरे पंथ में ले जाने की नीति अनुचित थी और 18वीं शताब्दी जैसी अवधि में विस्फोट की तरह थी।"

"कि अगर स्थानीय लोगों, यहां तक कि हजारों लोगों का भी ईसाई धर्म में परिवर्तन कराया गया तो यह बहुत गंभीर और सांघातिक विपत्ति होगी।"

"कि अमेरिका में पाठशालाओं और कालेजों की स्थापना उस देश के समाप्त होने के प्रमुख प्रभावशाली कारणों में से एक था।"

"कि भारत के अंदरूनी इलाकों तक कष्टकारी युवा पादरियों (जो आमतौर पर आनंददायक आदतों वाले होते हैं) का फैलना खतरनाक और अंततः देश के हितों के लिए विनाशकारी होगा।"

इन तर्कों से स्पष्ट है कि 18वीं शताब्दी के अंत तक ब्रिटिश संसद ने समान पंथ में भारतीय लोगों के परिवर्तन के लिए ईसाई मिशनों को भारत आने की अनुमति नहीं दी या उन्हें शिक्षा देना ब्रिटिश सत्ता के अस्तित्व के लिए खतरनाक माना। 1813 में कंपनी के चार्टर कानून के नवीनीकरण के समय यह मामला ब्रिटिश संसद के सामने फिर आया। कंपनी के सबसे अधिक उत्तरदायी सेवकों की गवाही लार्ड्स कमेटी ने ली और जिन गवाहों की परीक्षा ली गई, उनमें लार्ड हेस्टिंग और सर जान माल्काम जैसे अनुभवी तथा उत्तरदायी व्यक्ति थे। सर माल्काम ने भारत में मिशनरियों के प्रवेश पर अपनी आपत्तियों के स्पष्टपूर्ण बयान दिए। हम इससे उद्धरण पेश करते हैं :

"अपने साम्राज्य के वर्तमान विस्तृत दायरे में एक शक्ति की सुरक्षा जो अपनी प्रकृति में इतनी विशिष्ट है कि सरकार के अंतर्गत बड़े समुदायों में आमतौर पर विभाजित है और उनकी उपधाराएं विभिन्न जातियों और उपजातियों में बंटी हुई हैं; जब तक वे इस तरह विभाजित रहती हैं; हमारी शक्ति के स्थायित्व को झंझोरने वाला कोई विप्लव संभव नहीं है।"

"मुझे नहीं लगता कि किसी ऐसे ज्ञान का संचार हमारी सरकार की राजनीतिक मजबूती में कुछ भी जोड़ेगा जो हमारी पैदाइशी प्रजा के बीच विशिष्ट भेदों को क्रमशः दूर करे या उस आदर को कम करे जो उनमें यूरोपीय लोगों के प्रति है।"

लेकिन इस बार संसद का मिजाज श्री ग्रांट द्वारा बढ़ाए गए दूसरे प्रकार के तर्कों से तय हुआ। उनके मुख्य तर्क एक पैंफ्लेट में समेटे गए थे जिसे उन्होंने संसद के सदस्यों की जानकारी के लिए उस वक्त बांटा था। ये निम्नलिखित थे :

"किसी देश में ईसाई धर्म की स्थापना स्वतंत्र राजनीतिक संविधान के बाद ही लाना जरूरी नहीं है। पूर्ववर्ती ईसाइयों ने सरकारों को बदलने की कोई कोशिश नहीं की; ईसा मसीह के सुसमाचार की भावना किसी ऐसी प्रवृत्ति को भी नहीं उकसाता जो इस तरह के प्रयासों की ओर ले जा सके। ईसाई धर्म यूरोप के कई हिस्सों और प्रोटेस्टेंट राज्यों का धर्म लंबे समय से रहा है जहां सरकार का रूप लोकप्रिय नहीं है।"

"हम ऐसी किसी अवधि के बारे में नहीं विचार कर सकते जिसमें हम अपनी

किसी एशियायी प्रजा का अपने द्वारा या किसी अन्य शक्ति द्वारा शासन से अधिक खुशी से शासन कर सकते हैं, और ऐसा करते हुए हमें उनके हाथों में सैन्य शक्ति किसी तरीके से देने का अनावश्यक खतरा उठाने की जरूरत नहीं है।"

निम्नलिखित निश्चित तर्क के जरिये उन्होंने पूरे मुद्दे को बांध दिया :

"हमें यह कहने का साहस हो सकता है, जहां भी हमारी नीतियां और भाषा शुरू की जाएंगीं, हमारा व्यापार शुरू हो जाएगा।"

ब्रिटिश नीति की एक झलक

अपनी डायरी में 21 मई, 1820 को फैरिंग्टन इस अवधि में सरकार की नीति की हमें एक झलक देते हैं। वह कहते हैं :

"रात के भोजन के बाद कर्नल ब्राउन ने हमें भारत को आदर देते हुए सूचनाएं दीं। वह बनारस में तैनात थे। उन्होंने यहां के लोगों—हिंदुओं के बहुत आक्रामक होने के बारे में बताया लेकिन वे लोग और साथ-साथ मुसलमान भी बेहतरीन सैनिक बनते हैं। हिंदू देश के आदि निवासी हैं, मुसलमान बाहर से जबरन आए लोग हैं। उन लोगों के एक-दूसरे के खिलाफ काफी पूर्वाग्रह हैं और ब्रिटिश सरकार उनकी विरोधी भावना से अपने आपको सफल बनाती है जो एक-दूसरे के विरोध में उनके संयोजन को रोकती है।"

निस्संदेह, जब लेखक कहता है : "हिंदू देश के आदि निवासी हैं, मुसलमान बाहर से जबरन आए लोग हैं," वह या तो इतिहास के प्रति अनभिज्ञता दर्शाता है या उसका सिर्फ मतलब है कि एक के धर्म का यहां दूसरे के धर्म से अधिक पुराना अस्तित्व है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि हम निस्संदेह कह सकते हैं कि यहां के अधिकांश मुसलमान आज पूरी तरह साफ-साफ हिंदुओं की तरह भारत मां के बेटे हैं, दोनों के पुरखे पहले की स्वदेशी हिंदू आबादी से रहे हैं; मुसलमानों के बहुत छोटे हिस्से के पुरखे दूसरे देश के रहे होंगे। और इसके मद्देनजर यह याद किया जाना चाहिए कि दसवीं शताब्दी तक भी आज कहे जाने वाले अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि देश और एशियायी तुर्किस्तान के कई भाग हिंदू या बौद्ध थे; और छठी शताब्दी तक पूरा फारस पारसी धर्म, अर्थात् अर्ध-हिंदू धर्म का अनुयायी था। वस्तुतः मुगल काल तक पूरे भारतीय इतिहास में अफगानिस्तान और आसपास के इलाके बराबर हिंदुस्तान के हिस्से माने जाते थे और सामान्य संस्कृति, सामान्य धर्म और यहां तक कि सामान्य राजनीति तथा प्रशासन के बंधन के जरिये भारत से एकताबद्ध थे। कर्नल ब्राउन हिंदुओं और मुसलमानों के एक-दूसरे के खिलाफ कड़े पूर्वाग्रह की बात करते हैं। यह 1815 के हैमिल्टंस गैजेटियर से हमारे द्वारा दिए गए उद्धरण के बिल्कुल विपरीत है। उन दिनों पांच साल में चीजें बहुत नहीं बदल गई हो सकती हैं। हमें समझना होगा कि कर्नल

ब्राउन की इच्छा उनके विचार की जनक है और यह कि वह राई का पर्वत बना रहे हैं। जब वह कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार उनकी विरोधी भावना से अपने आपको सफल बनाती है, हम बहुत आराम से देख सकते हैं कि उनका साफ अर्थ है कि वह उन मतभेदों का सकारात्मक ढंग से विरोध में आग लगाने की पूरी कोशिश करती है जो हैं और नए मतभेदों को जन्म देती है।

सेना का पुनर्गठन

सेना के पुनर्गठन के सवाल पर 1821 में विचार किया गया। 'कार्नाटिक्स' के बनावटी नाम के तहत एक खास ब्रिटिश अधिकारी ने मई, 1821 के "एशियाटिक जर्नल" में एक लेख में आधारभूत सिद्धांत कुछ इस तरह रखे :

"चाहे राजनीतिक, नागरिक या सैन्य हो, हमारे भारतीय प्रशासन का आदर्श वाक्य 'बांटो और राज करो' होना चाहिए।"

इस सिद्धांत के तहत उसने भारत के लिए मिश्रित सेनाओं की सिफारिश की और यह विचार उस समय प्रमुख रहा।

1857 में और फिर 1858 में कई भारतीय टुकड़ियों ने ब्रिटिश सेना के खिलाफ विद्रोह किया तो एक आयोग को यह विचार करने के लिए नियुक्त किया गया कि क्या वर्तमान व्यवस्था दोषपूर्ण प्रमाणित हो चुकी है। इसके समक्ष कई उच्चाधिकारियों ने अपने विचार रखे। सर जान लारेन्स ने कहा :

"यह पाया जाता है कि एक-दूसरे के साथ मिलाई गई विभिन्न जातियां अपनी विशिष्टता बहुत लंबे समय तक नहीं बनाए रखतीं; उनकी धारणाएं और कोण तथा भावनाएं एवं पूर्वाग्रह रगड़ जाती हैं; अंततः वे एकीभूत हो जाती हैं और उनके मिलन का लक्ष्य एक हद तक खत्म हो जाता है।"

लेफ्टिनेंट जान कोक ने कहा :

"हमारा प्रयास पूरी शक्ति से (हमारे लिए सौभाग्यशाली) अलगाव बनाए रखना होना चाहिए जो विभिन्न धर्मों और जातियों के बीच है; उन्हें एकताबद्ध करने के प्रयत्न की जरूरत नहीं है। 'बांटो और राज करो' भारतीय सरकार की नीति होनी चाहिए।"

'बांटो और राज करो' पर लार्ड एल्फिंस्टन

एक प्रपत्र में 14 मई, 1858 को बंबई के गवर्नर लार्ड एल्फिंस्टन ने लिखा :

"'बांटो और राज करो' एक पुरानी रोमन कहावत थी और यह हमारी नीति होनी चाहिए। मैं इतने निश्चयपूर्वक यह बात कहने में शायद हिचकिचाता अगर मैं यह बताने में सक्षम नहीं होता कि इस विषय पर मेरे विचार ड्यूक आफ वेलिंग्टन के पूरी तरह समान हैं।"

पश्चिमी शिक्षा प्रदान करना

जैसा कि हमने देखा है, ईसाई मिशनों को भारत में काम करने और शिक्षा संस्थाएं खोलने की अनुमति 1813 में मिली। लेकिन सरकार ने 1833 तक लोगों को पश्चिमी शिक्षा देने के बारे में कोई कदम नहीं उठाया। 1833 में मैकाले ने इस मामले पर जोर दिया और कुछ प्रभाव पड़ा लेकिन असम्मति और हिचकिचाहट 1854 तक जारी रही जब सर चार्ल्स ट्रेवेलियन के प्रयासों ने अंततः मामले को समाप्त किया। सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने संसदीय समिति को अपना एक पेपर "द पोलिटिकल टेंडेंसीज आफ द डिफरेंट सिस्टम्स आफ एजुकेशन इन इंडिया" 1854 में प्रस्तुत किया जिसने रास्ता अंततः तैयार किया। इस पेपर में निम्नलिखित आधारभूत तर्क थे :

"इतने दूर के दो देशों–इंग्लैंड और भारत के बीच वर्तमान संबंध स्थायी प्रकृति के नहीं हो सकते; कोई भी नीति यहां के निवासियों को अंततः अपनी स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करने से नहीं रोक सकती। लेकिन यहां तक पहुंचने के दो तरीके हैं। इनमें से एक क्रांति के मार्ग के जरिये है, दूसरा सुधार के जरिये है।

"जहां तक यहां के लोगों का ध्यान अपनी पूर्ववर्ती स्वतंत्रता में लगाने पर छोड़ देने का सवाल है, अपनी स्थिति सुधारने के लिए उनका एकमात्र लक्ष्य अंग्रेजों का तत्काल पूर्ण बहिष्कार है।

"हमारे साहित्य के जरिये हमसे निकट संपर्क होने के कारण भारतीय युवक हमें विदेशी मानने से लगभग इनकार करते हैं। वे लोग हमारे महापुरुषों के बारे में उसी उत्साह से बात करते हैं जैसे हम करते हैं। उसी तरह से शिक्षित, उन्हीं लक्ष्यों में रुचि रखने वाले, उन्हीं प्रवृत्तियों में संलग्न रहने वाले लोग हिंदू से अधिक अंग्रेज बन गए हैं जैसे फ्रांसीसियों या इटली वासियों से अधिक देहाती रोमन हो गए हैं।

"प्रजा का कोई वर्ग नहीं है जिसे लेकर हमें इतना चिंतित होना जरूरी है क्योंकि इनके विचार अंग्रेजों को सांचे में ढालते हैं; वे लोग देशवासी शासन के लिए पूरी तरह बेचैन हैं; वे लोग देशवासी सरकार की स्थापना से पहले हर चीज से भयभीत हैं; उनकी शिक्षा उन्हें इस अनुसरण से मुक्त करेगी।"

लार्ड एलेनबोरो द्वारा हिंदुओं को मनाना

इन उद्धरणों को देने का हमारा उद्देश्य यह दिखाना है कि 1857 के युद्ध के पहले और बाद–दोनों समय ब्रिटिश सरकार भारत के साथ 'बांटो और राज करो' की नीति पर काम कर रही थी। कभी वे हिंदुओं का पक्ष लेते थे, फिर मुसलमानों का, फिर हिंदुओं का और इसी तरह जब जैसा अवसर होता था, करते थे। 1843 में ही लार्ड एलेनबोरो, जो उस वक्त भारत के वायसराय थे, ने साफ तौर पर

हिंदुओं को मनाने और मुसलमानों की अनदेखी करने की नीति अपना ली थी। उन्होंने लिखा, "मैं इस विश्वास पर अपनी आंखें मूंदे नहीं रख सकता कि यह जाति (मुसलमान) हमारे प्रति मूल रूप से विरोधी है और इसलिए हमारी सच्ची नीति हिंदुओं को सांत्वना देने की है।" इस उद्देश्य के लिए उन्होंने जो नीति अपनाई, वह अपने विचार और इसके कार्यांवयन में विशिष्ट थी और यहां इसे पूरा देना कुछ रुचिकर होगा। यह घटनाक्रम पहले अफगान युद्ध से जुड़ा है। इस युद्ध में अपनी पहली पराजय, जिसमें उन लोगों को काफी हानि हुई, के बाद ब्रिटिश सेना ने 1842 में दूसरी कोशिश की जिसमें वे काबुल तक पहुंचने में सफल रहे। काबुल में उनकी स्थिति असुरक्षित थी और वह भी जनरल पोलाक के अविवेक के कारण ज्यादा, जिस बारे में एक साल बाद वेलिंग्टन के ड्यूक ने एलेनबोरो से इन शब्दों में शिकायत की :

"मैं नहीं समझ सकता कि कैसे एक व्यक्ति, जो जानता है कि सैनिक किस चीज के बने हैं, काबुल में बाजार और दो मस्जिदों को नष्ट करने के बारे में आदेश देने की सोच सकता है।"

भारत में भी स्थिति चिंताजनक थी जैसा कि लार्ड एलेनबोरो की एक चिट्ठी में निम्नलिखित अंश से लगता है :

"हैदराबाद और सिंध में, साथ-साथ नेपाल और सागर जिले में तथा बुंदेलखंड में मैं अपनी सत्ता के संबंध में परिवर्तन के चिह्न देखता हूं जो काबुल में हुए उपद्रवों ने सभी लोगों के विचार में उत्पन्न किए हैं और यह बात मुझे अफगानिस्तान से सेना बुलाने के प्रति चिंतित करती है। मैंने जलालाबाद में अधिकांश विजय की है। मैंने कुछ फ्रांसीसी शैली में आम आदेश जारी किए हैं; लेकिन उनका अपना प्रभाव है। मैंने खुले हाथों से सम्मान और पुरस्कार दिए हैं और मेरे पुराने सहकर्मी सर डब्ल्यू. केसमेंट मुझे बताते हैं कि मेरे द्वारा दिए गए आम आदेश 10,000 लोगों के लिए हैं। मैं वह सब करता हूं जो अधिकारियों और सैनिकों के लिए कर सकता हूं और मैं सचमुच सोचता हूं कि मैं पूरी सेना के अतिउत्साही समर्थन पर निर्भर कर सकता हूं।"[60]

सोमनाथ के फर्जी दरवाजे

यह सेना पर प्रभाव डाल सकता है लेकिन लोगों की कल्पना भी प्रभावित करनी होगी और इसके लिए एक अनोखा विचार गवर्नर जनरल के सलाहकारों के मन में आया। एलेनबोरो ने रानी को लिखा :

"सोमनाथ मंदिर के दरवाजे मेजर जनरल नाट ने हटवा दिए हैं...

---

60. "राइज आफ क्रिश्चियन पावर इन इंडिया", वोल्यूम 5, पृ. 82, 83

"लार्ड एलेनबोरो उस भाषण की प्रति आपकी सेवा में भेजता है जो यह घोषणा करते हुए प्रकाशित करना चाहता है कि मंदिर के दरवाजे दुबारा लगाए जाएंगे। गेटों की प्रगति फिरोजपुर से सोमनाथ तक महान राष्ट्रीय विजय होगी और भारत के लिए उन्हें लगाया जाना पूरी जनता में सरकार को प्रिय बनाएगा।"

वेलिंग्टन के ड्यूक को उन्होंने उसी समय लिखा :

"दूसरी ओर, हिंदू आनंदित हैं। यह सोचना मुझे अनुचित लगता है जब हम दसवें भाग के विरोधी होने और नब्बे भाग के उत्साहपूर्ण समर्थन, जो हमारे प्रति विश्वस्त हैं, के बारे में पक्के हैं। हम अपनी अधिकांश सफलताएं पाएंगे और मंदिर के दरवाजों को दुबारा बनाकर इसे हम महान सैन्य विजय दिखाएंगे लेकिन अच्छी तरह समझेंगे कि हिंदू इसे अपने लिए और मुसलमानों के खिलाफ उनके धर्म के भविष्य की सुरक्षा की गारंटी मानेंगे। जो भारत को बहुत अच्छी तरह जानते हैं, वे सभी मुझसे कहते हैं कि इसका निश्चित रूप से अच्छा प्रभाव होगा और मैं सोचता हूं कि ऐसा ही होगा।"[61]

इसलिए, यह विजय अभियान आरंभ हुआ और इसने उस समय भारत में बड़े उपद्रव शुरू किए। हम उस प्रभाव के बारे में अच्छी तरह सोच सकते हैं जो इसने हिंदू-मुस्लिम भावना पर डाला। दरवाजों को लेकर पूरा घटनाक्रम पूरी तरह रचित था।

"इस कहानी को आधुनिक विद्वान नहीं मानते कि सोमनाथ मंदिर के दरवाजे महमूद ने तुड़वाए थे और 1843 में अंग्रेजों ने अफगानिस्तान विजय के बाद जो दरवाजे लगवाए थे, वे आगरा के किले में उपेक्षित पड़े हैं।"[62]

फारसी की समाप्ति

सरकार की राजनीति जबकि पुराने विभाजन के चिह्न पर इतने आराम से चिंतन करने और बिना संदेह बढ़ाने और भारतीय जीवन में नई शत्रुता को जन्म देने की थी, दूसरे उद्देश्यों से अपनाए गए इसके कुछ उपायों ने भी उसी दिशा में मदद की। इसी तरह का उपाय था न्यायालय के कामकाज के तौर पर फारसी की समाप्ति। यह सच है कि देश की स्वदेशी भाषा न होने के कारण फारसी जनता तक नहीं पहुंच पाई और इसलिए यह न्यायिक तथा प्रशासकीय कार्यों के लिए बहुत समुचित माध्यम नहीं थी और न्यायालयों एवं सार्वजनिक कार्यालयों के लिए राष्ट्रीय भाषा, अर्थात् हिंदुस्तानी और राज्यों की भाषाओं का उपयोग स्वाभाविक अधिकार था। लेकिन पूरे मुस्लिम काल के दौरान कुलीन और उच्च मध्य वर्गों के बीच फारसी आम संस्कृति की भाषा थी, दोनों समुदायों के युवक

61. "राइज आफ क्रिश्चियन पावर इन इंडिया", वोल्यूम V, पृ. 84, पाद-टिप्पणी
62. सी.वी. वैद्य, "मेडीएवल हिंदू इंडिया", वोल्यूम III, पृ. 92

अपने शुरुआती वर्षों में मकतबों में फारसी का अध्ययन करते थे और इस तरह उनके बीच एक ठोस सांस्कृतिक संबंध की स्थापना हुई थी। फारसी कविता में सूफी विचार समाहित हुए थे; वस्तुतः, यह कुछ नहीं बल्कि सूफीवाद के भावनात्मक पक्ष की परिपूर्ण अभिव्यक्ति थी जो वेदांत से काफी मिलता-जुलता है। इस तरह इसने धार्मिक मिश्रण की भावना को आवश्यक वेग दिया जो दोनों समुदायों में पनप रही थी।

राजा राममोहन राय पुरानी धारा के थे और उनकी बनावट में हम इस प्रक्रिया को पाते हैं। 1784 में जब वह करीब बारह साल के थे, उन्हें अध्ययन के लिए पटना भेजा गया जो उस समय मुस्लिम शिक्षा का प्रसिद्ध स्थान था जहां से सरकारी सेवा में नियुक्तियां आमतौर पर होती थीं। उन्होंने जो शिक्षा पाई, उसके प्रभाव का ब्रह्म समाज के एक इतिहासकार ने इस तरह वर्णन किया है :

"वह मुस्लिम दार्शनिकों के सूफी विचार वाले लेखन से खास तौर पर मोहित बताए जाते हैं। ...अपने बाद के पूरे जीवन भर राममोहन राय इन शुरुआती मुस्लिम प्रभावों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए। इतने लंबे वर्षों के दौरान अपने व्यक्तिगत जीवन में उनकी आदतें और इच्छाएं मुस्लिमों के समान थीं और व्यक्तिगत बातचीत में वह प्रिय सूफी लेखकों के खुले तौर पर उद्धरण देकर बराबर प्रसन्न होते थे।"[63]

1857 से पहले के दिनों में शिक्षित हिंदू और मुस्लिम का यह आम तरह का व्यवहार था।

न्यायालय की भाषा के तौर पर फारसी की समाप्ति के साथ इसके अध्ययन का अधिकांश प्रलोभन जाता रहा और दोनों समुदायों की शिक्षा भिन्न दिशाओं में तितर-बितर होनी शुरू हो गई। यदि फारसी को दबाने के बाद दोनों समुदाय आम अंग्रेजी स्कूल की तरफ तुरंत चले गए होते तो खतरा और चोट को टाला जा सकता था। लेकिन नई थोपी गई गुलामी की पीड़ा से गुजर रहे मुसलमान बेमेल होते गए, उन्होंने इसे अपनी संस्कृति पर चोट माना।

पश्चिमी शिक्षा से दूर रहे मुसलमान

इस तरह वे शिक्षा के पश्चिमी विद्यालयों से अलग रहे जो उस वक्त फारसी की जगह प्रचलित हो रही थी। दूसरी ओर, फारसी की समाप्ति ने हिंदू समुदाय को फायदा पहुंचा दिया। इस समुदाय ने 1818 से ही शुरू की गई अंग्रेजी शिक्षा में अपने को शिक्षित करना आरंभ कर दिया और 1837 तक इसने इस क्षेत्र में

---

63. फरकहार, "माडर्न रेलिजस मूवमेंट्स इन इंडिया", पृ. 30

इतनी प्रगति कर ली थी कि इसके प्रयास और उत्साह सरकार का ध्यान आकर्षित करने लगे थे। 1844 में लार्ड हार्डिंग ने एक और घोषणा की कि भविष्य में सभी नियुक्तियों में उन लोगों को वरीयता दी जाएगी जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण की हो। इन स्थितियों में इस कदम ने एक सामाजिक क्रांति की शुरुआत कर दी क्योंकि इसके बाद मुसलमान प्रभाव तथा उत्तरदायित्व वाले सरकारी पदों और स्थितियों से स्वाभाविक तौर पर बाहर किए जाने लगे। उनके स्थान स्वाभाविक रूप से हिंदुओं द्वारा भरे जाने शुरू हो गए और परिणामस्वरूप सांप्रदायिक कटुता का फलप्रद स्रोत अस्तित्व में आ गया। अंग्रेजी स्कूलों से मुस्लिम अन्यमनस्कता 19वीं शताब्दी के लगभग नौवें दशक तक चली।

मुसलमानों का आधार खिसकने लगा

सर डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर कहते हैं, "लगभग हर जगह यह पाया गया कि हिंदू आबादी जीवन में अपनी बेहतरी के लिए राज्य शिक्षा द्वारा दिए गए अवसरों को लेकर उत्कट इच्छा रखती थी जबकि कुछ खास जगहों को छोड़कर मुस्लिम आबादी ऐसा करने में पूरी तरह विफल रही। इस तरह राज्य शिक्षा ने भारत की पूर्ववर्ती शासक जाति मुसलमानों के प्रभाव को अंतिम चोट पहुंचाई।"

1897 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद के तौर पर अपने भाषण में श्री रहमतुल्लाह मुहम्मद सयानी ने कहा:

"अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत के साथ हिंदुओं ने सरकारी जीवन के हर संवर्ग में प्रवेश करना आरंभ कर दिया; और 1854 में शिक्षा की राज्य व्यवस्था ने क्रांति पूरी कर दी।" शिक्षा के स्वदेशी तरीके हर जगह, यहां तक कि मस्जिदों में भी गायब हो गए। "भारत के मुस्लिम विजय के बाद मस्जिदें इस्लामी शिक्षा गतिविधि की केंद्र बन गई थीं और उन्हें भूमि के स्थानीय अनुदान का राज्य संबंधी समर्थन था। लेकिन अब मस्जिदों ने शिक्षा समाप्त कर दी, यहां तक कि निचले बंगाल में भी—एक ऐसा राज्य जहां सौ साल पहले कुछ अंग्रेज, कुछ हिंदू और अधिसंख्य मुसलमान अधिकारी थे। मुसलमानों ने अपने सभी आधार खो दिए।"

इस बीच हिंदुओं के बीच अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार समुदाय के जीवन और उच्च मध्य वर्गों की समग्र दृष्टि में क्रांति ला रहा था। यह उन्हें जबरन पश्चिम की ओर खींच रहा था और उनमें पश्चिमी राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति और पश्चिमी प्रतिनिधित्व वाली संस्थाएं हासिल करने के लिए उत्कंठा पैदा कर रहा था। धीरे-धीरे राष्ट्रवाद का आदर्श भी रूप ले रहा था लेकिन जब यह प्रक्रिया में ही था, 1857 के युद्ध से भी पहले उच्चतर उत्तरदायित्व वाले कार्यालयों की मांग अस्तित्व में आ गई थी। इस अवधि को सर वेलेन्टाइन शिरोल ने इस तरह चित्रित किया है :

"भारत में आया मानसिकता का यह परिवर्तन ही था कि हमारे खुद के स्थापित स्कूलों और कालेजों से भारतीयों के नए वर्ग का जन्म हुआ जिसने न सिर्फ उन अंग्रेजों की आलोचना करने का साहसपूर्ण काम किया जिन्होंने उन पर शासन किया बल्कि यह घोषणा की कि वे अपने पर खुद बिल्कुल ठीक ढंग से शासन कर सकते हैं। पहले कदम के तौर पर उन लोगों ने प्रशासन में अधिक तथा और प्रभावी हिस्से के लिए आंदोलन किया। 1858 की रानी विक्टोरिया की उदार घोषणा में जब उन्होंने आदरणीय ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अब तक किए जा रहे प्रशासन को बदलकर भारत में प्रदेशों की सरकार संभाली, उन्होंने यह आश्वासन दुहराया जो 1833 में संसद ने दिया था और अपने शाही वचन दिए कि 'उनकी प्रजा चाहे जिस पंथ या जाति की हो', राज्यपद की सेवा में स्वतंत्र तौर पर निष्पक्ष ढंग से नियुक्त की जाएगी। लेकिन सार्वजनिक नियुक्तियों के बढ़े हिस्से में भारतीयों को लाए बिना कई वर्ष गुजर गए हालांकि उन पदों की शैक्षिक अर्हता वे पूरी करते थे। निराशा पूरी तरह गहन हो चुकी थी।"[64]

1857 तक संबंध

जब ये सब घटनाएं हो रही थीं और इनकी भविष्य में बड़ी प्रतिक्रियाएं होना तय थीं, स्वतंत्रता की पहली लड़ाई में उनका कोई तात्विक परिवर्तन होता नहीं दिखा। एक-दूसरे में भरोसा और विश्वास रखना उनके बीच जारी रहा और हालांकि उनकी साझा संस्कृति कमजोर हो गई थी, इसने उनकी एक-दूसरे के बीच एकता और मित्रवत भावना बनाए रखी। बहादुरशाह ने अपने व्यक्तिगत दावों पर दबाव बनाने के लिए अपनी तरफ से इंग्लैंड जाने हेतु राजा राममोहन राय को चुना और पेशवाओं के महान वंशज नाना साहब ने अपने एक मुसलमान मित्र और सहायक को इंग्लैंड भेजा। बहादुरशाह, नाना साहब और अजीमुल्लाह खान 1857 की लड़ाई के महत्वपूर्ण चरित्र हैं। वह लड़ाई व्यापक आंदोलन की थी जिसमें लोगों के सभी वर्गों ने भाग लिया लेकिन शुरू से अंत तक उनमें सांप्रदायिक मानसिकता का कोई चिह्न ढूंढ़ना असंभव है। इसका झंडा हरा मुस्लिम झंडा था और हिंदुस्तान की राजनीतिक एकता के तौर पर बहादुरशाह की सर्वश्रेष्ठ सत्ता वापसी ध्येय था। विदेशी शासन की चेतना और उसे उखाड़ फेंकने की सामूहिक इच्छा का भारतीय इतिहास में पहली बार जन्म देखा जाता है। यह उल्लेखनीय घटनाक्रम था कि इतनी पूर्ण उदासीनता के बाद भारत ने इतना विस्तृत और इतना एकताबद्ध प्रयास किया। यह भारतीय इतिहास में विशेष प्रयास था। यह भारतीय राजाओं की संधि नहीं थी जो एक राजनीतिक विरोधी को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष कर रही थी; जनता भी इसमें मदद कर रही थी। यह राष्ट्रीय आंदोलन

64. वी. शिरोल, "इंडिया", पृ. 84

नहीं बल्कि राष्ट्रीय षड्यंत्र था और इस रूप में यह आने वाले राष्ट्रीय आंदोलन की पूर्व सूचना थी। और उस समय यह आम इच्छा, आम लक्ष्य और आम प्रतिरोधक शक्ति के अस्तित्व का शकुन था जिसने ब्रिटेन की कब्जा करने की नीति और स्थिरता को बड़े रूप में झकझोर दिया।

1857 के बाद मुसलमानों पर अत्याचार

लेकिन 1857 की लड़ाई ने उन प्रक्रियाओं को पूरा कर दिया जो मुस्लिम समुदाय को पहले से निर्जीव कर रही थीं। दिल्ली के पतन के बाद देश के दुर्भाग्य पर रोते हुए अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह ने खास तौर पर इस तथ्य का उल्लेख किया कि ब्रिटिश शासकों के कोप के खास तत्व मुसलमान थे।

गई यक-ब-यक जो हवा पलट,
नहीं दिल को अपने करार है;
करूं गम सितम का मैं क्या बयां,
मेरा सीना गम से फिगार है;
ये रियाया हिंद तबाह हुई।
कहो क्या ना इनपे जफा हुई;
जिसे देखा हाकीम-ए-वक्त ने
कहा ये तो काबिल-ए-दार है।
कहीं ऐसा भी है सितम सुना,
कि दी फांसी लाखों को बे-गुनाए;
वाले कल्मा-गोयों की तरफ से
अभी दिल में उनके गुबार है।

मुसलमानों की स्थिति पर सर डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर ने 1868 में यह लिखा :

"गदर के बाद ब्रिटिश सत्ता मुसलमानों को इस प्रकार अपने वास्तविक दुश्मनों की तरह मानने लगी कि विद्रोह की विफलता हिंदुओं की तुलना में उनके लिए अधिक विपत्तिग्रस्त हो गई। उन लोगों ने हिंदुओं पर पारंपरिक श्रेष्ठता का अपना सभी बचा-खुचा गौरव पहले ही खो दिया है; उन्होंने अपने विदेशी शासकों का विश्वास फिलहाल खो दिया है।

स्वामी दयानंद का अभियान

इन स्थितियों ने स्वामी दयानंद पर बहुत गहरा प्रभाव डाला होगा और उनमें पश्चिमी सभ्यता के प्रति घृणा भर गई होगी तथा वह अपने देश के प्राचीन इतिहास की तरफ पूरे दिल से घूमे होंगे। उनके सभी धर्मों और सामाजिक आंदोलन का एकसूत्री वाक्य था 'वेदों की ओर लौटो!' उन्होंने उस धारा में भारत

को पुनर्सभ्य करने का अभियान चलाया जिसने पूर्व और पश्चिम—दोनों की अच्छाइयों को मिलाया। उन्होंने मूर्ति-पूजा और वंशगत जाति के खिलाफ उपदेश दिए लेकिन उन्होंने अपनी शिक्षा का आधार वेदों को बनाया। उनका आर्य समाज वस्तुतः हिंदू धर्माचार्य विरोधी और सुधारवादी आंदोलन था। उन्होंने जिस मत का उपदेश दिया, वह आधारभूत विचार के रूप में इस्लाम के निकट और हिंदुत्व के उन वर्तमान लोकप्रिय रूपों से दूर था जिसके खिलाफ उनका अभियान विद्रोह था। लेकिन उन्होंने अपने अभियान के दौरान जो तरीके अपनाए थे, उनसे उनके अनुयायियों का मुस्लिम समुदाय के साथ संघर्ष होना ही था।

"हर जिले में (मुस्लिम) राजवंश के कुछ वंशज बिना छत वाले महलों और गलाघोंटू कूड़ा-करकट में रहने को विवश हैं। मुसलमानों को सेना और कानूर से बाहर रखा जा रहा है। न्यायपालिका अपनी आकृति में या तो अंग्रेज हो गई है या हिंदू; जबकि स्थायी निबटारे ने मुस्लिम भूपतियों की बड़ी संख्या में बेदखली कर दी है।"

इस तरह 1857 की लड़ाई के बाद दोनों समुदायों की स्थिति और समग्र दृष्टि में सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक तौर पर काफी कुछ तुलनात्मक रूप से अंतर आया।

आर्य समाज का जन्म

हिंदू समुदाय को आत्मविश्वास मिला और एक नई चेतना का जन्म हुआ जिसे कई धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों में अभिव्यक्ति मिली जिनमें सबसे प्रमुख था—आर्य समाज जिसकी स्थापना 1875 में स्वामी दयानंद ने की। स्वामी दयानंद के दोहरे लक्ष्य थे। एक तरफ वह हिंदू समाज को शुद्ध करना और अतिवादी अंधविश्वास का पाप हटाना चाहते थे जिसने युगों से इसे ढंक रखा था और दूसरी तरफ, वह हिंदुओं को दूसरे धर्मों और भौतिकवाद की ओर जाने से रोकना चाहते थे जो अंग्रेजी शिक्षा ला रही थी।

पश्चिमवाद की लहर

लार्ड रोनाल्डशे ने अपनी 'हार्ट आफ आर्यावर्त' में उस अवधि का इस तरह वर्णन किया है :

"उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक बौद्धिक अराजकता की अवधि आ गई थी जिसमें जन्म ले रही पीढ़ी ऐसे विमान की तरह थी जैसे कोई विमान दलदल में टुकड़े हो जाता है। पश्चिमवाद समय का फैशन बन गया और पश्चिमवाद अपने उपासकों से मांग करने लगा कि वे अपने ही देश की संस्कृति को नीचा दिखाएं। सब कुछ पश्चिमी हो, ऐसी इच्छा रखने वाले लोगों के लिए यह जरूरी

हो गया कि वे ऐसी सभी चीजों की सार्वजनिक भर्त्सना करें जो पूर्वी हैं। प्राचीन ज्ञान का तिरस्कार किया गया, प्राचीन रीतियों तथा परंपराओं को छोड़ दिया गया, प्राचीन धर्म को थका हुआ अंधविश्वास बताया गया। प्राचीन नींव जिस पर हिंदू समाज का महल खड़ा किया गया था, नीचा दिखाया गया और उपासकों की नई पीढ़ी ने उस थोड़े से ही बहुत कुछ पा लिया जिसे सहारा देहर वे महल बना सकें और वे अपनी ही नींव को प्रमाद में छोड़ने लगे।"

ब्रह्म समाज

इस तरह जबकि आर्य समाज आगे बढ़ रहा था और उत्तर भारत के हिंदुओं की धार्मिक तथा सामाजिक समग्र दृष्टि में परिवर्तन ला रहा था, राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज बंगाल में अपना काम कर रहा था। वैसे, उसके काम की धारा कुछ मामलों में आर्य समाज से कुछ भिन्न थी। इसका प्रयास न सिर्फ सामाजिक सुधार की तरफ था बल्कि यह उच्चतर धार्मिक एवं नैतिक सम्मिश्रण की तरफ भी था। इस अवधि में ब्रह्म समाज के नेता रहे केशव चंद्र सेन ने एक बार अपनी और अपने गुरु की आध्यात्मिक उत्कंठा के बारे में विशिष्ट ढंग से प्रतीकात्मक तौर पर कहा :

"जनवरी, 1881 में वार्षिक दिवस पर वह अपने एक दर्जन धर्म प्रचारकों से घिरे हुए मंच पर पधारे—यह नव विधान अर्थात् नई व्यवस्था थी और यह हिंदू त्रिशूल, ईसाई क्रास और इस्लामी अर्धचंद्र से बना असाधारण प्रतीक था। मेज पर विश्व के चार महानतम धर्मों—हिंदू, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम की धर्मपुस्तकें रखी थीं। चार भक्त खास तौर पर नियुक्त किए गए थे ताकि वे उनमें से हर धर्म की पुस्तक का अध्ययन कर सकें। इसके बाद पार्श्व में ब्रह्म समाज लिखा था और केशव का समूह नई व्यवस्था के चर्च के तौर पर जाना जाता है।"[66]

सर सैयद अहमद

मुस्लिम पक्ष में भी महान शक्ति और व्यक्तित्व के एक नेता उभरे। उनका अभियान उतना धार्मिक सुधार का नहीं जितना अपने समुदाय का भौतिक उत्थान और बेहतरी का था। वह स्थिति की वास्तविकताओं के साथ मुसलमानों का व्यावहारिक संपर्क और इस तरह उन्हें असाध्य बर्बादी से बचाना चाहते थे। वह धार्मिक वादानुवादियों के अखाड़े में घुसे क्योंकि अपने समुदाय की नासमझ कट्टरवादिता को नष्ट किए बिना वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते थे। एक समय वह "भारत के मुसलमानों के आचरण में सुधार के प्रति निराश हो गए थे और मिस्र

66. फरकहार, "माडर्न रेलिजस मूवमेंट्स इन इंडिया", पृ. 56

चले जाने के बारे में सोचने लगे थे।" लेकिन अपने समुदाय का प्रेम अंततः प्रबल हो गया और उन्होंने अपना जीवन उसकी सेवा में अर्पित करने का निर्णय किया।

स्वामी दयानंद की तरह वह अंग्रेजों के प्रति निष्कपट थे लेकिन उनके विपरीत उनमें पश्चिम की सभ्यता के प्रति गहरी ललक और अपने देश के लिए पश्चिमी प्रतिनिधित्व वाली संस्थाएं हासिल करने की उत्कंठा थी। वह भारत में मुस्लिम राजनीतिक प्रबलता की पुनर्स्थापना का सपना नहीं देख सके और इसलिए उनकी पहली कामना उनके शासकों के तरीकों और रास्तों के प्रति तालमेल को लेकर अपने समुदाय को झुकाने की शिक्षा रही। वह समय के चिह्नों को पढ़ सकते थे और अपने देश पर बढ़ती चली आ रही पश्चिमी सभ्यता की प्रबलता का अंदाजा लगा सकते थे तथा उन्हें यही एकमात्र रास्ता लगा जिससे वह अपने समुदाय को अलगाव और नाश के भंवर से बचा सकते थे। इसलिए शुरू से अंत तक वह अपने समुदाय में पश्चिमी शिक्षा को लोकप्रिय करने और व्यवस्था करने में अपने को केंद्रित करते रहे।

उनके प्रयास सफल रहे क्योंकि इस बीच मुसलमानों को लेकर सरकार के रवैये में परिवर्तन हो गया था। हिंदू समुदाय के पुनः उद्‌गम ने उसके भय को बढ़ा दिया था और वह इसके बढ़ते प्रभाव को तोड़ने के लिए एक समतोलन की खोज में लग गई थी। इस तरह हालांकि उद्देश्य भिन्न थे, सरकार और सर सैयद की योजनाएं समान केंद्र पर मिल रही थीं। वह इंग्लैंड गए और वहां कैम्ब्रिज तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में उन्होंने अध्ययन किया। वापसी पर कुछ वर्षों तक भूमि तैयार करने के बाद उन्होंने 1875 में अलीगढ़ में एम.ए.ओ. कालेज की स्थापना की, उसी साल जिसमें स्वामी दयानंद ने बंबई में अपने समाज़ की स्थापना की। कालेज सरकार के संरक्षण में शुरू हुआ, इसकी जमीन यू.पी. के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने हासिल की, इसकी आधारशिला खुद वायसराय ने रखी और सेवा कार्य से अलग रहने वाले वायसराय ने दस हजार रुपये का पहला बड़ा अनुदान दिया।

सर सैयद का लक्ष्य न सिर्फ सरकार के साथ मुसलमानों की संधि कराना था बल्कि उनका अपने देश और हिंदू समुदाय के साथ शांति स्थापित करना था। वह दोनों समुदायों को 'भारत मां की दो आंखें' मानते थे और वह उन्हें एक-दूसरे को प्रेम करने और आदर देने की शिक्षा का कोई अवसर नहीं छोड़ते थे। उन्होंने ब्रिटिश संसद से संबंधित मामलों को प्रभावी ढंग से स्पष्ट रूप में उठाने के लिए सभी हितों तथा समुदायों वाले ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। राजनीतिक क्षेत्र में उनके कार्य तथा उनके भाषणों ने उस वातावरण की रचना में बड़ी मदद की जिसकी वजह से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अस्तित्व में आई।

1884 में उन्होंने गुरदासपुर में एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के आदर्श की इस तरह परिभाषा दी :

"प्राचीन समय से राष्ट्र शब्द एक देश के निवासियों के लिए व्यवहार किया जाता है हालांकि वे कुछ खासियतों में भिन्न होते हैं जो उनकी अपनी विशिष्टता होती है। हिंदू और मुस्लिम भाइयो, क्या आप लोगों का हिंदुस्तान के अलावा भी कोई देश है? क्या आप समान भूमि में निवास नहीं करते? क्या आप समान भूमि में जलाए और दफनाए नहीं जाते? क्या आप समान भूमि पर पैर नहीं रखते और जीवन नहीं जीते हैं? याद रखो कि हिंदू और मुसलमान शब्द सिर्फ धार्मिक बोध के लिए हैं, अन्यथा सभी लोग–चाहे वे हिंदू, मुसलमान या ईसाई हों जो इस देश में रहते हैं, और एक समान देश के हैं। तब ये सभी पंथ एक देश के तौर पर कहे जा सकते हैं : उन लोगों को देश की अच्छाई के लिए एकताबद्ध हो जाना चाहिए जो सबके लिए समान हैं।"

उसी साल एक अन्य अवसर पर उन्होंने लाहौर में कहा :

"राष्ट्र शब्द में मैं हिंदुओं और मुसलमानों–दोनों को शामिल करता हूं क्योंकि यही एक अर्थ है जो मैं इसके साथ संबद्ध कर सकता हूं। ...मेरे लिए यह जानना महत्वपूर्ण नहीं है कि उनकी धार्मिक आस्था क्या है क्योंकि हम इसमें कुछ भी नहीं देखते हैं। जो हम देखते हैं, वह यह है कि हम एक ही भूमि पर निवास करते हैं, एक ही शासन की प्रजा हैं, सबके लिए फायदे के झरने एक ही हैं, और अकाल की पीड़ाएं भी हम समान रूप से भोगते हैं। ये भिन्न आधार हैं जिन पर मैं इन जातियों को एक शब्द हिंदू कहता हूं जो भारत में निवास करते हैं, अर्थात् वे हिंदुस्तान के निवासी हैं। विधान परिषद् में मैं इस देश के सौभाग्य के लिए बराबर चिंतित रहता हूं।"[67]

कांग्रेस का जन्म

जबकि ये सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलन जारी थे, समुदाय के पश्चिमी शिक्षित वर्गों का बड़ा आंदोलन भी जारी था जिसे कई तरीके से अन्य दो आंदोलन मदद पहुंचा रहे थे। पश्चिमी शिक्षा ने देश के प्रशासन में भागीदारी तथा पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं के लिए उत्कंठा ला दी थी। इस उत्कंठा का बढ़ना जारी रहा और इसने अखिल भारतीय मांग और अखिल भारतीय संगठन के रूप में अपने को संगठित किया। सरकार इस उत्कंठा के बारे में जानती थी और इसे लेकर बहुत असहज थी। उन दिनों सरकार के पास इसकी वास्तविक गहराई और तीव्रता को ठीक-ठीक नापने का उचित तरीका नहीं था और वह सत्यता का पता लगाना चाहती थी। 1885 में मनोवैज्ञानिक क्षण आया जब इसके बनने

67. "इंडियन नेशन बिल्डर्स सिरीज", सर सैयद अहमद खान, पृ. 41, 42

के लिए वास्तविक प्रयास शुरू किए गए। वायसराय की अध्यक्षता में अखिल भारतीय सामाजिक संगठन बनाने का विचार आरंभ हुआ। जब संपर्क किया गया तो वायसराय ने दूसरा कुछ सोचा। उन्हें लगा कि यदि सरकारी संपर्क और नियंत्रण से मुक्त रखा जाए तो पश्चिमी शिक्षित वर्ग का अखिल भारतीय संगठन वास्तविक भारतीय भावना का बेहतर बैरोमीटर होगा। इसलिए उन्होंने एक स्वतंत्र संगठन की सलाह दी जो भारत में वह उद्देश्य पूरा कर सकता है जैसे ब्रिटिश संसद में महामहिम के खिलाफ विपक्ष करता है। परिणामस्वरूप, 1885 में बंबई में बड़ी सभा हुई जिसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई और इसे यह नाम दिया गया।

यहां सिर्फ बहत्तर लोग जमा हुए और उन लोगों ने भारत के सिर्फ सत्ताइस जिलों का प्रतिनिधित्व किया; लेकिन यह उनकी संख्या नहीं बल्कि विचार था जिसका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया और भावना थी जो उनमें समाहित थी जो आंदोलन के आधार का वास्तविक महत्व था। भारत की आत्मा स्व-अभिव्यक्ति और स्व-स्वीकार का कोई रास्ता तलाश करने के लिए छटपटा रही थी और अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस तरह का अवसर उसे दिया। समय ने अपने आप आंदोलन को शकुन दिया और जनता तथा सरकार–दोनों ही घटनाक्रम से चकित रह गईं। 'टाइम्स' के संवाददाता का सुर उस भावना के बारे में संकेत देता है कि उस वक्त इस नए संगठन को किस तरह लिया गया। उसने जो लिखा, हम यहां उसका अंश दे रहे हैं :

"पिछले सप्ताह बंबई के नेताओं ने अपनी संगठनात्मक शक्तियों का फिर प्रमाण दिया। उन्होंने एक साथ राष्ट्रीय कांग्रेस बुलाई जिसमें पूरे देश के किसी भी महत्व के सभी राजनीतिक समाज से प्रतिनिधि शामिल थे। उन्यासी सदस्य एक साथ मिले; 29 बड़े जिलों ने प्रवक्ता भेजे।[68] बंबई से कलकत्ता, मद्रास से लाहौर तक–पूरे भारत का प्रतिनिधित्व किया गया। जबसे दुनिया शुरू हुई, संभवतः पहली बार एक राष्ट्र के तौर पर भारतीय इकट्ठा हुए। उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं में पंथों की भिन्नता, जातियों का विभाजन–सब कुछ समान आधार में मिलता लगा।"

यह वस्तुतः भारतीय इतिहास में पहली बार था कि भारत एक राजनीतिक इकाई के तौर पर काम कर रहा था–अपने राजाओं के जरिये नहीं बल्कि अपने लोगों के जरिये। राजाओं के साथ ही रचना करने की शक्ति वाला चरण समाप्त हो गया था। इस समय से अपने जीवन और अपने उत्थान का दायित्व खुद उसके लोगों पर आ गया। आंदोलन का यह आयाम–भारत की जनता का अपने विषय

68. "आधिकारिक रिपोर्ट प्रतिनिधियों की संख्या 72 और प्रतिनिधित्व वाले जिलों की संख्या 27 बताती है।

में निर्णय का दावा था जिसने उसके विदेशी स्वामियों में भय पैदा कर दिया और रोष भर दिया। और यही वह आयाम था जिसने उसके अपने लोगों में अप्रतिहत भाव भर दिया और उस ओर बढ़ा दिया जहां कोई धर्मनिरपेक्ष आंदोलन उन्हें इससे पहले नहीं ले गया था। आंदोलन की वास्तविक प्रकृति और इसमें संभावनापूर्ण चुनौती स्पष्ट तथा अशुद्ध न होने योग्य थी। पहले सत्र पर "टाइम्स" ने अपने संपादकीय में इस तरह टिप्पणी की :

"प्रस्तावों की इस शृंखला से पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या भारत उस परिवर्तन के लिए तैयार है जिसकी इसमें बात की गई है। अगर इसका उत्तर सकारात्मक है तो अंग्रेजी शासन के दिन गिने-चुने हैं। अगर भारत अपने आप शासन कर सकता है तो देश में हमारी जगह की जरूरत नहीं है। हमें जो कुछ करना होगा, वह यह कि हम नई व्यवस्था की रचना करवाएं और उसे काम करने के लिए छोड़ दें। वकील और स्कूल शिक्षक और अखबारों के संपादक खाली स्थान को भरेंगे और हमारी मदद के बिना कामकाज संभालेंगे। ...वे चाहें जो करें, भारत सरकार को संवैधानिक रूप से जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। यदि यह बढ़िया काम करता है, न तो इंग्लैंड और न भारत को इससे असंतुष्ट होने का कोई कारण है। शिक्षित वर्ग संपूर्ण राजनीतिक अधिकारों से अपने अलगाव को बुरा पा सकता है। वह अपना राजनीतिक विशेषाधिकार पा सकता है जितने का अधिकारी होना वह प्रमाणित करता है। लेकिन भारत पर शक्ति से विजय पाई गई और शक्ति से ही भारत पर शासन किया जाना चाहिए, चाहे देश की सरकार को जो भी अधिकार देने पड़ें। अगर हमें वापस होना पड़े तो हमें सबसे तेज जुबान या सबसे तेज कलम नहीं बल्कि सबसे मजबूत बांह और सबसे तेज तलवार के पक्ष में होना होगा। शायद इस संदर्भ में व्यावहारिक रुख से कांग्रेस के सदस्यों को अपनी स्थिति के बारे में पुनर्विचार करना होगा।"

यह ब्रिटिश शासन की सच्ची प्रकृति की और भारत की वास्तविक समस्या की निष्कपट अभिव्यक्ति थी। लेकिन अधिक महत्वपूर्ण आलोचना निम्नलिखित थी :

"भारत की पूरी मुस्लिम आबादी का उनके साथ कोई मतलब होने से दृढ़ता से इनकार पर्याप्त अपशकुनी तथ्य है।"

"टाइम्स" संवाददाता ने इस तरह मुसलमानों के झूठे गौरव के साथ खेलने तथा अपनी परोक्ष शत्रुता अंग्रेजों से उनके हिंदू देशवासियों की ओर मोड़ने की कोशिश की।

"एकमात्र महान जाति अपनी अनुपस्थिति से प्रत्यक्ष रही; भारत के मुसलमान वहां नहीं थे। वे अपने स्वाभाविक अलगाव में स्थिर बने रहे। वे विकास के लिए अपनी क्षमता में हिंदू या पारसी के अधीन होना निश्चित रूप से स्वीकार नहीं

करते हैं लेकिन वे महारानी की शेष भारतीय प्रजा के साथ मिलाए जाने से दृढ़ता से इनकार करते हैं। न सिर्फ अपने धर्म में बल्कि अपने स्कूलों और लगभग अपने सभी कालेजों और अपने दैनिक जीवन में वे लगभग अहंकारी भाव रखते हैं। इसका कारण ढूंढ़ना मुश्किल नहीं है। वे नहीं भूल सकते कि चार शताब्दी से भी कम समय पहले वे अति प्रभावशाली जाति के थे जबकि प्रगति कर रहे उनके वर्तमान प्रतिद्वंद्वी इतनी संख्या में कर भुगतान करने वाली इकाई के तौर पर गिने जाते हैं जो छोटे सिक्के देकर इस्लाम के गौरव को झकोरा मारते हैं।"

माननीय के.टी. तेलंग ने उपर्युक्त आलोचना का एक पत्र में इस तरह उत्तर दिया :

"आपकी टिप्पणी का पहला बिंदु यह है कि कांग्रेस में भारत के मुसलमानों की अनुपस्थिति प्रत्यक्ष रही। हालांकि यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि हमारी बैठक में मुस्लिम समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं हुआ, आपकी टिप्पणी पूरी तरह उचित नहीं है। दो प्रमुख मुसलमान भद्रपुरुषों, अर्थात् श्री आर.एन. सयानी और श्री ए.एम. धर्मसी ने कांग्रेस में जरूर भाग लिया। ये दोनों भद्रपुरुष विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट और बंबई के हाईकोर्ट के एटार्नी आफ स्टैंडिंग हैं। श्री सयानी ने पिछले साल बंबई के शेरिफ का कार्यालय संभाला, कुछ साल पहले सरकार द्वारा नियुक्त खोजा विधि आयोग के सदस्य थे और पहले कई साल तक बंबई की नगरपालिका निगम के सदस्य भी रहे। इसके अलावा बंबई के विधायी परिषद के सदस्य माननीय श्री बदरूद्दीन तैयबजी और श्री कमरूद्दीन तैयबजी ने कांग्रेस में भाग लिया होता, अगर जिस समय कांग्रेस बैठक हो रही थी, उस वक्त वे बंबई में अनुपस्थित न रहते। श्री बदरूद्दीन बंबई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन की मैनेजिंग कमेटी के चेयरमैन हैं जिसने पूना सार्वजनिक सभा के मेल से कांग्रेस का आयोजन किया।"

सर सैयद ने कांग्रेस से मुसलमानों को अलग रखा

दूसरी कांग्रेस में 55 और तीसरी में 76 मुसलमानों ने प्रतिनिधि के तौर पर भाग लिया। श्री बदरूद्दीन तैयबजी तीसरे सम्मेलन के अध्यक्ष थे जिसने कांग्रेस संविधान के हिस्से के तौर पर अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के संबंध में प्रसिद्ध सुरक्षात्मक धारा बनाई। सर सैयद अहमद दो साल तक कांग्रेस पर टिप्पणी करने से बचते रहे लेकिन तीसरे सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने कांग्रेस आंदोलन के खिलाफ खुद को खुलकर घोषित किया। 1887 में बड़ा दिन सप्ताह के दौरान लखनऊ में मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन हुआ। वहां प्रतिनिधियों की विशेष बैठक में सर सैयद मुसलमानों के कांग्रेस में शामिल होने के खिलाफ बोले। अगस्त, 1888 में कांग्रेस के खिलाफ तथाकथित देशभक्त संघ का गठन किया गया। 1923 की कांग्रेस में अपने

अध्यक्षीय भाषण में श्री मोहम्मद अली ने कहा :

"मुसलमानों को प्रतिनिधि के तौर पर शामिल करने की पर्याप्त पहले कोशिश की गई। लेकिन ऐसे समय में मुसलमानों के बीच पश्चिमी शिक्षा के महान दिग्दर्शक सर सैयद अहमद खान राजनीतिक रंगभूमि में कूद पड़े और कांग्रेस आंदोलन के समर्थन में राजनीतिक गतिविधि के प्रति मुसलमानों ने जो भी चिह्न दिखाए, अपने दो ऐतिहासिक भाषणों में—एक, 28 दिसंबर, 1887 को लखनऊ में दूसरा, 16 मार्च, 1888 को मेरठ में निश्चयात्मक रूप से उन्होंने रोक लगा दी।"

उन वास्तविक कारणों के विषय में जिसने कांग्रेस के प्रति समर्थन रोकने को सर सैयद अहमद को प्रेरित किया, उनके मित्रों में से एक नवाब मुश्ताक हुसैन ने इस तरह वर्णन किया है :

"सैयद अहमद खान ने तीन साल तक आंदोलन पर निकट से निगाह रखी लेकिन जब उन्होंने पाया कि यह अपनी अभिलाषा में परिमित या न्याययुक्त नहीं है और न अल्पसंख्यकों के हित को लेकर पर्याप्त सतर्क है और सरकार या शासन करने वाली जाति के साथ अपने संबंधों को लेकर इसका सुर आदरपूर्ण या उचित होने से बहुत दूर है, वह अपने उत्तेजित करने योग्य सहधर्मियों को चेतावनी देने से नहीं रोक पाए कि ऐसे आंदोलन में जिस तरह की कांग्रेस हिमायत करती है, भाग लेना उनके सर्वोत्तम हितों के विरुद्ध है।"

सर सैयद ने तीन लंबे साल तक अपना निर्णय रहस्य में रखा जिस दौरान खुद सरकार आंदोलन के प्रति अपने रवैये को लेकर अनिर्णय में थी और अंततः उसी समय अपने को इसके खिलाफ घोषित किया जब सरकार का रुख खुलकर विरोधी बन गया। उनके विरोध ने सरकार को नया तर्क दे दिया जिससे इसके बाद से भारतीय अल्पसंख्यकों के वास्तविक रक्षक होने के आधार पर भारतीय मामलों पर अपने नियंत्रण को तर्कसंगत बताना आरंभ कर दिया। इन सबके परिणामस्वरूप मुसलमानों में यह भावना बढ़नी जारी रही कि वे अपने ही देश में अपरिचित हैं और भारी संख्या से घिरे असहाय अल्पसंख्यक हैं। यह भावना अंदर से और बाहर से—दोनों तरफ से बढ़ती गई और जैसे-जैसे बढ़ी, इसने अपने ही देश और देशवासियों में अपने आत्मविश्वास और उनके विश्वास को तेजी से नष्ट किया और उन्हें विदेशी शासन की दया पर असहाय ढंग से धकेल दिया।

कांग्रेस से मुसलमानों के अलगाव के बाद राष्ट्रवाद के क्रमिक विकास को गहरा धक्का पहुंचा। धार्मिक और सांस्कृतिक सम्मिलन की तेजी से क्षति हो रही थी जबकि अंग्रेजी शिक्षा से जन्मे राजनीतिक आदर्श और दृष्टि बढ़ती दरार को पाटने के लिए अपना स्थान नहीं ले सके। पहले से ही शुरू हो चुके सांप्रदायिक संघर्ष और अधिक गंभीर बन गए। धर्म राजनीति का हथकंडा बन गया और कुटिल राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इसका उपयोग किया गया। मुसलमानों का राजनीति

से अधिक-से-अधिक दूर जाना जारी रहा। राष्ट्रवादी आदर्श उन लोगों को नहीं खींच पाया। राजनीतिक विकास में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दो पीढ़ियों का अंतर था; हिंदुओं ने 1818 में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत की और मुसलमानों ने 1875 में। इस अवधि के दौरान सामान्य संस्कृति की कई डोरें टूट गई थीं। नई शिक्षा से जो नए रिश्ते बन रहे थे, उससे हिंदू एकरूप हो रहे थे, मुसलमानों में अलगाव तीव्र हुआ।

पश्चिमी आदर्शवाद में मुसलमानों के सामान्यीकरण में आगे और उनके बीच प्रभाव रखने वाले सर सैयद उन्हें कांग्रेस की तरफ संभवतः ला सकते थे लेकिन उन्होंने इससे अपने समुदाय को अलग रखना बेहतर समझा। वह इसके जीवन और विकास के लिए सरकार की दया पर पूर्णतः निर्भर हो गए। यह मुस्लिम समुदाय को अपनी पूरी ऊर्जा सांप्रदायिक स्रोतों की ओर मोड़ने के अनिवार्य परिणाम की ओर ले गया। इसने राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को समाप्त कर दिया और उन्हें सर्व-इस्लामीकरण के प्रभावों के प्रति उन्मुख और पराधिकारवश बना दिया।

इतिहासकार के लिए "घटना के बाद विवेकी" होना आसान है। कितना भी दूरदृष्टि वाला हो, किसी इतिहास निर्माता के लिए यह बहुत ही कठिन है और काम करने वाले कुछेक लोगों में ही बहुत दूर तक नजर रखने—अपने कामों के दूरगामी परिणामों को देखने की क्षमता होती है या अवकाश मिलता है। सर सैयद ने वही किया जो उन्होंने उचित और योग्य तथा अपने समुदाय के सर्वोत्तम हितों के लिए वास्तव में सोचा। फिर भी, बाद के इतिहास के आलोक में हम कांग्रेस के संबंध में उनकी कार्रवाई को और कुछ नहीं बल्कि पीड़ादायक गलती मान सकते हैं जो कितनी भी अच्छी इच्छा से की गई, इसने दोनों समुदायों के बीच सब दिन के लिए दरार चौड़ी कर दी और इसके सबसे गंभीर भयानक परिणाम हुए।

6

इसका आनंद

राष्ट्रीय आंदोलन में हल्का सांप्रदायिक रंग

सर सैयद की नीति का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आंदोलन को जारी रखने का उत्तरदायित्व मुख्यतः हिंदुओं पर आ गया। इसलिए यह स्वाभाविक था कि इस तरह की स्थिति के दौरान इसे हल्का हिंदू रंग मिल जाए। राष्ट्रवादी हिंदुओं को अपने उन सभी संभावित स्रोतों का आंदोलन को बढ़ाने में उपयोग करना पड़ा जो अब भी आरंभिक अवस्था में थे। अगर हिंदू और मुसलमानों ने समान लक्ष्य के लिए मिल-जुलकर काम किया होता तो दोनों समुदायों ने अपने स्वयं के संसाधनों का उपयोग करते हुए एक-दूसरे पर प्रभाव का नियंत्रण और संतुलन किया होता एवं उनकी संयुक्त गतिविधियों का परिणाम दोनों समुदायों की संयुक्त संस्कृति के प्रभाव वाले राष्ट्रीय आंदोलन का होता।

लेकिन जैसी कि स्थितियां थीं, राष्ट्रीय आंदोलन वस्तुतः मात्र हिंदुओं के प्रभाव में रहा और इसने मुख्यतः हिंदू स्रोतों से अपनी प्रेरणा तथा रंग हासिल किया। यह उस सामाजिक आंदोलन के वृहत्तर उपायों के बावजूद सच था जो 1887 में भारतीय सामाजिक कांफ्रेंस नाम से आरंभ हुआ और जिसे शुरू से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ा हुआ देखा जाता था। यह आंदोलन मुख्यतः उन लोगों ने आरंभ किया था जिन्होंने पश्चिमी संस्कृति अपना ली थी तथा जो पश्चिम से प्रेरणा लेते थे। हालांकि आर्य समाजियों जैसे पूर्वी तरह के सुधारवादियों ने भी इसमें हिस्सा लिया, वे इसकी निर्देशक शक्ति नहीं थें। भारत में यूरोपीय राहों, तरीकों और सामाजिक संस्थाओं का आरोपण इसका आदर्श लगता था। इसकी जमीन में गहरी जड़ें नहीं हो पाईं। वस्तुतः इसने राष्ट्रीय सम्मिलन की वास्तविक समस्या का कभी सामना नहीं किया जो किसी राष्ट्रीय सामाजिक आंदोलन का प्राथमिक काम होना चाहिए था। इसलिए इसने मुसलमानों के दिमाग में भ्रम पैदा करने में मदद की—न सिर्फ हिंदू प्रभाव के कारण जिसके तहत यह काम कर रहा था बल्कि लोक विरुद्ध होने की वजह से हालांकि यह अपनी वास्तविकता के कारण ऐसा लगता था।

मुस्लिम सहकर्मियों का साथ मिला होता तो स्वस्थ प्रभाव का लाभ मिलता लेकिन हिंदू राष्ट्रवादी इस विश्वास में बह गए कि वे राष्ट्रीय मुद्दे को धार्मिक तथा सांप्रदायिक गतिविधियों में लगाकर मदद कर रहे हैं जिसने मुस्लिम समुदाय के दिमाग में और संदेह पैदा कर दिया।

राष्ट्रीय जनचेतना जगाने के लिए धार्मिक गणपति महोत्सव और देशभक्तिपूर्ण शिवाजी महोत्सव आरंभ हुए। पंजाब में आर्य समाज ने ज्यादा-से-ज्यादा उत्साह से धर्म प्रचार किया। आर्य समाज उतना ही सिद्धांत में मूर्तिभंजक और अद्वैतवादी है जितना इस्लाम। फिर भी, चूंकि एक संस्कृत भाषा की पवित्रता और वेद के शब्द पर ही विश्वास करता था जबकि दूसरा अरबी भाषा और कुरआन के शब्द पर। और एक की सोच थी कि एक खास प्रकार के तरीके से परमात्मा की आराधना संभव है जबकि दूसरा सोचता था कि दूसरे प्रकार का तरीका ही एकमात्र मार्ग है और दोनों में से कोई नहीं देखता था कि एक ही प्रकार के विचार तथा एक ही तरह की हृदय-भावनाएं एवं इच्छाएं भिन्न शब्दों में रखे गए हैं और यही नहीं, चूंकि दोनों के धर्म प्रचारक एक-दूसरे के खिलाफ कड़ी भाषा का उपयोग करते थे, उन लोगों में हिंसक संघर्ष होना ही था।

हिंदू अपने धर्म का सुधार और पुनर्जीवन का प्रयास कर रहे थे। तब लीग के शताब्दियों बाद आर्य समाज ने पहली बार शुद्धि का प्रति आंदोलन आरंभ किया। सिस्टर निवेदिता ने "आक्रामक हिंदुत्व" पर किताब लिखी। विवेकानंद ने न सिर्फ भारत बल्कि पश्चिम में भी गहरा प्रभाव डालने वाले वेदांती ब्रह्मवाद–अद्वैतवाद के सूक्ष्म सूफी रूप–का उपदेश दिया। उन्होंने सामाजिक सेवा कार्य के लिए "मठ" आरंभ किए और हिंदुत्व के शुद्धीकरण की कोशिश की। इन सबने हिंदुत्व को आत्मविश्वासी और दृढ़निश्चयी बनाने में मदद की।

मुस्लिमों पर इसकी प्रतिक्रिया

इन घटनाओं की मुस्लिमों पर स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई और उसने उनके संदेहों को बढ़ाने में मदद की। इस पूरी अवधि के दौरान उन लोगों ने परंपरागत अंजुमन आरंभ किए और सांप्रदायिक समाज बना लिए। उन लोगों ने अपने संगठन और प्रचार को सभी दिशाओं में बढ़ाया और परंपरा का झंडा ऊंचा किए रखा।

अपने धर्म के व्यवहार को तर्कसंगत और तार्किक बनाने के प्रयास के तौर पर भारत के उत्तर-पश्चिम इलाके में इस्लाम के अंदर ही कादियानी पंथ उभरा।[69] मिर्जा गुलाम अहमद का जन्म 1839 में हुआ। उनमें पहली बार 1876 में विचार जन्मा बताया जाता है जिसके बाद उन्होंने अपना धर्मप्रचार का काम आरंभ किया।

69. मैं इससे सहमत नहीं।–मौलाना जफरुल-मुल्क

जैसा कि पंथ[70] के एक अनुयायी ने लिखा है, "रीति, परंपरा, पुस्तक-पूजा, शब्द-पूजा, रूप-पूजा, मुल्ला-पूजा, पीर-पूजा, संक्षेप में ये सब इतनी बेड़ियां मुसलमान की आत्मा को निरंतर दासता की स्थिति में रखती हैं। परिणामस्वरूप मुस्लिम समाज का अंत और क्षय तय है।" मिर्जा गुलाम अहमद, जिन्हें उनके अनुयायी प्रेमपूर्वक नया मसीहा कहते हैं, ने इस अवनत हो रहे समाज में नया आध्यात्मिक जीवन बहाने में अपने आप को लगा दिया। यह तुरंत समझा जाएगा कि उद्धरण में दिए गए शब्द हिंदू समाज को भी समान रूप से वर्णित करते हैं, अगर हम सिर्फ मुल्ला की जगह पंडित और पीर की जगह गुरु शब्द का उपयोग करें। और यह बहुत उल्लेखनीय संयोग है कि कादियान के गुलाम अहमद ने सर सैयद और स्वामी दयानंद के थोड़े दिनों बाद ही अपने सुधारवादी कार्य आरंभ किए। फिर भी यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि कादियानी और आर्य समाजी सहमत नहीं हो सकते—कारण स्पष्टतः यह है कि दोनों में से कोई सच्चे ढंग से नहीं महसूस कर सकते हैं कि उनका ईश्वर दूसरे का भी ईश्वर है और दोनों इस बात पर बहुत दृढ़ महसूस करते हैं कि उनकी किताब ही सब दिन के लिए सभी मानवीयता के लिए अभ्रांतिपूर्ण दिशानिर्देशक है।[71]

19वीं शताब्दी के पूरे अंतिम दशक में सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक शक्तियां बिना दिशा बह रही थीं और विनाशक प्रवृत्तियों को मदद कर रही थीं। प्रशासनिक तरीके और जोड़-तोड़ के जरिये सरकारी अधिकारी संघर्षपूर्ण मुद्दों का पूरा लाभ उठा रहे थे। परदे के पीछे से वे लोग कट्टरता को थपथपा और प्रोत्साहित कर रहे थे और इसे अपने आपको दृढ़ होते देने तथा संगठित होने में मदद कर रहे थे। हिंदू कट्टरवादी आंदोलन जो शक्ति इकट्ठा कर रहा था, दिल्ली में दरभंगा के महाराजा की अध्यक्षता में 1900 में दिल्ली में हुए सम्मेलन से जन्मा जब वह हिंदू सत्यधर्मावलंबी के महापुरुष के तौर पर अपने हाथों में 'वेद की प्रति लेकर नंगे पांव चले' और उनके पीछे करीब एक लाख लोगों का बड़ा हुजूम चलने की बात कही गई। इसी सम्मेलन में "भारत धर्म महामंडल" की स्थापना की गई जो तात्कालिक तौर पर कट्टरपंथी धार्मिक गतिविधियों का अखिल भारतीय केंद्र बन गया।

तब भी, इन अलगाववादी प्रवृत्तियों के बावजूद पुरानी संस्कृति का सम्मेलन इतना गहरा और आपसी विश्वास तथा सहिष्णुता की जरूरत इतनी गहरी थी कि लोगों का आमतौर पर भाव मित्रतापूर्ण जारी रहा और सांप्रदायिक उत्तेजना आम रूप से कुछ शहरों तथा नगरों तक स्थानीय रूप में ही रही। इसके अलावा राष्ट्रीय आंदोलन

---

70. मुहम्मद याकूब खान, "मिर्जा गुलाम अहमद, द मैन" (1924)
71. कुरआन की अभ्रांतिता इस्लाम का मूलभूत आधार है। इसलिए कोई मुसलमान इससे अलग सोच ही नहीं सकता।—मौलाना जफरुल-मुल्क

बढ़ना जारी रहा और हालांकि यह एक संगठन के तौर पर मुसलमानों को खींचने में सक्षम नहीं हुआ, वे इसके स्वस्थ प्रभावों से पूरी तरह अलग नहीं रह सके।

नागरी-उर्दू विवाद

लगभग इसी समय संयुक्त प्रांतों (उस समय उत्तर-पश्चिम प्रांत) के न्यायालयों और सार्वजनिक कार्यालयों में फारसी लिपि के समानांतर नागरी लिपि के उपयोग के सवाल पर दुर्भाग्यपूर्ण विवाद उत्पन्न हो गया। इस विवाद ने हिंदी-उर्दू और फिर, हिंदू-मुस्लिम प्रकृति का रूप ले लिया। हिंदी और उर्दू के विकास में हिंदुओं और मुसलमानों ने पहले कंधे से कंधा मिलाकर काम किया था। हिंदी में कई बड़े मुस्लिम लेखक और उर्दू में कई बड़े हिंदू लेखक थे। लेकिन इस विवाद ने ऐसा रूप ले लिया, मानो उर्दू मुसलमानों की, हिंदी हिंदुओं की बपौती है और इसे बहुत की कटुता से बढ़ाया गया। इस कटु विवाद के पीछे प्रांतों के तत्कालीन लेफ्टिनेंट-गवर्नर सर एंटोनी मैकडोनेल का हाथ था। 1900 में उनकी सरकार ने न्यायालय और सार्वजनिक कार्यालयों में कुछ खास उद्देश्यों के लिए नागरी के उपयोग के अधिकार का आदेश पारित किया। यह सीधा आदेश था। वस्तुतः उर्दू और हिंदी—दोनों का ज्ञान दोनों समुदायों के बीच सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने के लिए आवश्यक है। लेकिन उस समय उसने दो समुदायों को प्रभावी ढंग से विभाजित कर दिया।

उ.प्र. इस्लामी भारत का सांस्कृतिक केंद्र था। इस केंद्र से आंदोलन की तरंगें उठीं जिसने पूरे देश को यहां से वहां तक झकझोर दिया और मुसलमानों को उठाकर खड़ा किया। अगस्त, 1900 में विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधि मुसलमान अपने घायल समुदाय के भाग्य पर विचार करने के लिए बड़े सम्मेलन में जमा हुए। उसी समय चुने हुए मुस्लिम नेताओं की बैठक ने समुदाय के राजनीतिक हितों पर निगाह रखने के लिए स्थायी अखिल भारतीय मुस्लिम संगठन के गठन का निर्णय किया। इसका विवरण तैयार करने का दायित्व नवाब वकारुल-मुल्क पर छोड़ दिया गया, जो इसके सचिव नियुक्त किए गए।

सामाजिक संघटन में विवाद इतना गहरा डूब गया और कटुता की स्थिति इतनी सघन करने वाली साबित हुई कि इसकी प्राणनाशक ऊर्जा अब भी समाप्त नहीं हुई है।

बंगाल का विभाजन

इस हिंदी-उर्दू द्वंद्वयुद्ध के प्रभाव किसी तरह कम हुए जब सरकार ने अधिक मारक और अधिक दूरगामी एक अन्य मुक्का मारा। मुसलमान बहुत गहरे तक व्याकुल थे और उनका शमन करना जरूरी था। हिंदुओं की घनिष्ठता, आत्मचेतना

और शक्ति बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी और किसी भी कीमत पर उन्हें तहस-नहस करना जरूरी था। इसलिए सरकार ने एक बम तैयार किया जिससे पूरे हिंदू समुदाय का राजनीतिक जीवन पंगु हो जाने की रणनीति बनाई गई। 1905 में सरकार ने बंगाल का विभाजन किया और उसे हिंदू और मुस्लिम वर्ग में बांट दिया।

उन दिनों बंगाल राष्ट्रीय आंदोलन की रीढ़ था और कलकत्ता भारत के राजनीतिक जीवन और नेतृत्व का केंद्र था। सरकार इस समस्या या इसके दुर्निवार पुनःउद्गम से निबटने की लंबे समय से कोशिश कर रही थी लेकिन इसके सभी प्रयास अप्रभावी साबित हुए और इसलिए अब इसने अपना अंतिम आक्रमण करने का निर्णय किया। इस कदम को रेखांकित करने वाली नीति को कलकत्ता के एक अंग्रेजी-भारतीय दैनिक[72] ने इस तरह खरेपन से प्रकट किया :

"बंगाल के विभाजन के लक्ष्य हैं, संक्षेप में : पहला, बंगाली जनता की सामूहिक शक्ति को नष्ट करना, दूसरा, कलकत्ता की राजनीतिक प्रधानता का नाश करना और तीसरा, पूर्वी बंगाल में मुस्लिम शक्ति को उत्साहित करना जिससे उसे शिक्षित हिंदू समुदाय की तेजी से बढ़ती शक्ति पर नियंत्रण रखने के प्रभावी होने की आशा है।"

इस तरह यह उपाय हिंदू-मुस्लिम अलगाव पैदा करने के लिए सांघातिक तरीके से किया गया—जबकि यह हिंदुओं को तहस-नहस करने के उद्देश्य से था, यह दिखावे में मुसलमानों के उनकी कीमत पर लाभ के लिए था। हिंदी-उर्दू विवाद में मुसलमानों के पराभव को हिंदुओं ने बुरी दृष्टि से देखा था; और अब हिंदुओं के पराभव पर मुसलमानों के बुरी दृष्टि से देखने का अवसर था। सरकार ने मुसलमानों के पूरे दिल से और संपूर्ण समर्थन की उम्मीद बांधी थी लेकिन चूंकि यह समुदाय कमजोर और राजनीतिक तौर पर असंगठित था, सक्रिय समर्थन के रूप में बहुत कुछ अपेक्षित नहीं था जबकि हिंदू पक्ष से आम भाव प्रकट हुआ जो सरकार के सभी जोड़-तोड़ को पार कर गया। सर वेलेन्टाइन शिरोल के मुताबिक, "महाराष्ट्र और बंगाल में राष्ट्रवाद का मतलब अब तक मराठा और बंगाली राष्ट्रवाद था—प्रत्येक का अलग-अलग धारा में बहना था। अब ये दोनों एक बड़ी धारा में मिल गए जो भारत के बड़े हिस्से में बहती थी।" इस प्रकार, बंगाल को विभाजित करने के उद्देश्य से अपनाए गए तरीके ने संयुक्त भारत का निर्माण किया।

लेकिन विभाजन आंदोलन ने भारत की राजनीतिक चेतना को गहरा और चौड़ा किया, हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच घेरे को तुलनात्मक रूप से गहरा और चौड़ा किया। जैसा कि हमने कहा है, यह उपाय इस उद्देश्य को प्राप्त करने

---

72. "द स्टेट्समैन"

के लिए सांघातिक रूप से तैयार किया गया और यह अपने कार्यावयन के तरीके में अधिक सांघातिक बना दिया गया। मुसलमान राजनीतिक रूप से अब भी इतनी शिथिल अवस्था में थे कि इस तरह के उपाय के पूरे महत्व को समझने में सक्षम नहीं हो पाए थे और परिणामस्वरूप वे वस्तुतः जबरन कार्रवाई के लिए उकसाए जा रहे थे और निर्दयतापूर्वक हिंदुओं के खिलाफ खड़े किए जा रहे थे।

"अवसर का लाभ ढाका में मुख्यालय बनाए हानिकर सोच वाले लोगों ने इस्लाम के पुनर्जागरण का संदेश देने, लंपट अतिवाद की पैरवी करने और ग्रामीणों के बीच यह घोषणा करने के लिए देश भर में दूतों को फैलाने में उठाया कि ब्रिटिश सरकार उनके पक्ष में है और हिंदुओं पर हिंसा करने पर वह कोई दंड नहीं देगी। उनके खतरनाक प्रचार को रोकने के लिए अधिकारियों ने कोई कदम नहीं उठाया। इसके कारण दंगे हुए, हत्याएं हुईं, हिंदुओं की दुकानें लूटी गईं, हिंदू मंदिर अपवित्र किए गए और कई हिंदू महिलाएं उठा ली गईं। कई शहर उजड़ गए, महिलाओं ने छिपकर रातें बिताईं, सामूहिक बलात्कार के अपराध बढ़ गए; पूरे देश के जिलों में आम आतंक का शासन हो गया।... सर बी. फुलर ने कहा कि उनकी दो पत्नियों में मुसलमान प्रिय हैं और मुसलमान आमतौर पर विश्वास करने लगे कि ब्रिटिश अधिकारी उनके किए किसी भी काम को माफ करने को तैयार हैं।"[73]

इस तरह एक वर्ग के लोगों का दूसरे वर्ग के खिलाफ बिना संदेह उपयोग कर प्रशासन भारत को पूरी लंबाई और चौड़ाई में समुदायों में शत्रुता बढ़ाने में सफल रहा। अब तक दोनों के बीच धार्मिक मामलों में मुठभेड़ होती थी जिसमें शिक्षित तथा राजनीतिक सोच वाले वर्गों की बहुत रुचि नहीं होती थी। लेकिन इन घटनाओं के कारण इन वर्गों में भी कटुता की गहरी भावना जन्मने लगी।

आल इंडिया मुस्लिम लीग

इस तरह इसने न सिर्फ मारक शत्रुता पैदा की, बल्कि सरकार ने इसे जारी रखने के लिए एक और खतरनाक योजना का खाका खींचा। इसी समय इसने कुछ उत्तरदायी मुस्लिम नेताओं (इनमें से कई ने अब तक पछतावे के साथ स्वीकार कर लिया है) के कानों में फूंका कि उन्हें अल्पसंख्यक अधिकारों की रक्षा के लिए अलग मतदाता समूहों की मांग करनी चाहिए। उसके अनुरूप, अक्टूबर, 1906 में लार्ड मिंटों के लिए "कमांड डेपुटेशन" प्रतीक्षा कर रहा था और मांग की गई थी कि उस समय विचार किए जा रहे सुधारों में अलग मतदाता समूहों को संविधान का अंग बनाया जाना चाहिए। प्रतिनिधि की नियुक्ति का स्वागत किया गया और पूर्ण आश्वासन दिया गया कि सरकार उनकी मांग को पूरी तवज्जो

73. सर एच. काटन, असम के पूर्व मुख्य कमिश्नर और कांग्रेस के पूर्व अध्यक्ष

देगी। इसने मुसलमानों के राजनीतिक मानसिकता वाले वर्गों में नई आशा और नई उथल-पुथल को जन्म दिया और 1900 से शिथिल अखिल भारतीय संगठन का पुनर्जन्म हुआ और आल इंडिया मुस्लिम लीग के नाम से नया संगठन अस्तित्व में आया। इस लीग के लक्ष्य थे : पहला, ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति बढ़ाना; दूसरा, मुस्लिम हितों की रक्षा और उन्हें बढ़ाना; तीसरा, अंतः संप्रदाय एकता बढ़ाना। इस लीग की स्थापना ढाका में हुई जहां अखिल भारतीय भीड़ में विचार के अलीगढ़ संप्रदाय की बहुलता थी। निस्संदेह, यह नौकरशाही के संतोष का दिन था क्योंकि जिस पौधे की इसने इतने ध्यान से परवरिश की थी, वह फल देने लगा था और एक मुस्लिम शिक्षित वर्ग अस्तित्व में आ गया था जिसका हिंदू शिक्षित वर्ग के खिलाफ प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सकता था। आल इंडिया मुस्लिम लीग में भाग लेते हुए इंग्लैंड के वर्तमान प्रधानमंत्री श्री रैमसे मैकडोनाल्ड अपने 'भारत के जागरण' (1911) में कहते हैं : "इस लीग के प्रयासों से मिली राजनीतिक सफलताएं जनता के दिमाग में इतनी ताजा हैं कि मुझे उन्हें अलग से बताने की जरूरत नहीं है। वे इस संदेह को समर्थन देने वाले चिह्न तक हैं कि बेईमान प्रभाव काम कर रहे हैं कि मुसलमान नेता कुछ अंग्रेज भारतीय अधिकारियों से प्रेरित थे और कि इन अधिकारियों ने शिमला में और लंदन में तार खींचे तथा द्वेषपूर्ण सोच से मुसलमानों के प्रति विशेष पक्ष लेकर हिंदू और मुसलमान समुदायों के बीच विरोध के बीज बोये।"

मुस्लिम लीग के समय से विचार का अलीगढ़ समुदाय मुस्लिम राजनीति में प्रमुख था। इस दिशा में निश्चिंत सरकार ने बंटवारे के आंदोलन को तहस-नहस करने में पूरे दिल से काम किया।

भारत में राजकीय यात्रा की व्यवस्था करने की इसकी योजना सिर्फ शमन करने वाला कदम साबित हुआ। जैसे ही राजकुमार ने भारत छोड़ा, भारत के गृह मंत्री श्री मोरले ने बंटवारे को "तय कर दिए गए तथ्य" और संसदीय सरकार के लिए भारत की इच्छा को "चांद की चाहत होने" के रूप में घोषणा की। आंदोलन की चिंगारी "तेजी से धधकती ज्वाला के रूप में भड़क गई।" प्रेस ने अधिक निंदा की, जन प्रदर्शन अधिक उपद्रवपूर्ण होने लगे, राष्ट्रीय कार्यकर्ता अशांत हो गए। ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार पुनः शुरू हो गया और इसे धार्मिक उत्तरदायित्व माना जाने लगा। विद्यार्थी और स्कूल जाने वाले बच्चे अपने विदेशी कपड़े और अपनी अंग्रेजी पाठ्य पुस्तकों को आग लगाकर उत्सव मनाने के लिए प्रोत्साहित किए जाने लगे। स्वतंत्रता के ये प्रकाश स्तंभ "महाराष्ट्र के पर्वतीय हिस्सों से लेकर बंगाल के मैदानी इलाके तक खुलेआम प्रज्वलित हुए।"[74]

सन् 1906 के अपने सत्र में राष्ट्रीय कांग्रेस ने बंगाल के साथ कंधे से

---

74. किरोल का "इंडिया", पृ. 110

कंधा मिलाकर खड़ा होने के अपने निर्णय की घोषणा की और दादाभाई नौरोजी ने अध्यक्षीय पद से घोषणा की कि अब से भारत की मांग स्वराज होगी जिसकी परिभाषा उन्होंने उस स्व-सरकार के संपूर्ण उपाय के रूप में की जो ग्रेट ब्रिटेन और उपनिवेश अब तक कर रहे थे। लेकिन इन सबके साथ-साथ सीधी कार्रवाई और बहिष्कार की नीति के सवाल पर कांग्रेस शिविर के अंदर एक बड़ा विभेद काम कर रहा था क्योंकि अब तक कांग्रेस ने आवेदन, प्रार्थना और विरोध की नीति लगातार अपना रखी थी और इस नीति से अचानक अलगाव से फूट का खतरा हो गया था। सर फिरोज शाह मेहता और गोखले के नेतृत्व वाला एक वर्ग था जिसने बनारस कांग्रेस के बहिष्कार प्रस्ताव और बंगाल में प्रचलित आंदोलन के तरीकों पर सहमति नहीं दी थी। लोकमान्य तिलक और अरविंदो घोष के नेतृत्व वाला अन्य वर्ग था जिनका सिर्फ इन तरीकों में ही विश्वास था। लाला लाजपत राय दूसरे वर्ग के प्रति झुके हुए थे लेकिन पहले से ही अलग होना नहीं चाहते थे। इसी बीच श्री मोरले ने "मध्यमार्गियों को एकताबद्ध करने" का अपना ऐतिहासिक आह्वान किया और सरकार ने उनके साथ होने का चोंचला जान-बूझकर शुरू किया। परिणामस्वरूप, सूरत कांग्रेस से पहले जो शक्तियां अंदर और बाहर से काम कर रही थीं उनमें दो फाड़ होना लगभग अनिवार्य बना दिया। मुजफ्फरपुर में बम के कलंक, जिसके बाद कांग्रेस हुई, ने विभाजन को चौड़ा कर दिया और सरकार को अतिवादी शक्तियों को छितरा देने का एक अवसर मिल गया। तिलक को छह साल के लिए जेल भेज दिया गया। अरविंदो घोष से षड्यंत्र के मामले में कड़ी पूछताछ की गई। लाला लाजपत राय स्वनिर्वासन के रूप में अमेरिका चले गए। "वंदे मातरम" को जब्त कर लिया गया, पूरी राष्ट्रीय प्रेस टुकड़े-टुकड़े कर दी गई और उसका गला घोंट दिया गया और आंदोलन इस तरह दबा दिया गया कि यह गहरे भूमिगत हो गया। दूसरी तरफ, लोगों के सामने ललचाने के लिए रखे गए सुधारों ने रूप लेना आरंभ किया और मध्यमार्गियों को यह इतना संतोषजनक लगा कि मद्रास में कांग्रेस शिविर से सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने उचित आनंद के रूप में उनका स्वागत किया। इस तरह स्थिति नियंत्रण में थी और कुछ समय के लिए कांग्रेस पक्ष से किसी असामान्य प्रगति का कोई खतरा नहीं था। अंदर ही अंदर सुलग रही दबी हुई आग, जो कभी-कभी झपटती और चमकती थी, से देश के आम वातावरण में परिवर्तन के मद्देनजर स्वाभाविक मौत मरने की उम्मीद अच्छी तरह की जा सकती थी।

अलग मतदाता समूह

सन् 1909 में अलग मतदाता समूह संविधान के भाग बन गए और सांप्रदायिक

आधार पर चुनाव ने भारतीय समाज के उन वर्गों में सांप्रदायिक कीड़ा फैलाना शुरू कर दिया जो इस समय तक इससे तुलनात्मक तौर पर मुक्त थे। इसी साल लाहौर में पहला पंजाब हिंदू सम्मेलन किया गया और मुस्लिम लीग के विरोध के तौर पर हिंदू सभा की स्थापना की गई।

अलग मतदाता समूह की शुरुआत 'बांटो और राज करो' नीति का प्रमुख उपाय था। इस तरह सुविचारित खूंटा अपनी पूरी प्रकृति से राष्ट्रवाद के विकास में बाधा बनने की योजना वाला था और पूरे विचार से धक्का लगाए जाने पर व्यवहार कुशलता के साथ गहरे तथा और गहरे डूबने वाला था।

"हिंदू और मुसलमान उससे अधिक विरक्त हो गए जितने वे कई वर्षों से थे, संवैधानिक सुधार ने चक्कर ला दिया था। हिंदू कहने लगे थे कि राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए मुसलमानों के साथ अब और अधिक सहयोग की कोशिश का फायदा नहीं और मुसलमान उस नीति को जारी रखने पर अपनी खुशी और अपना निश्चय छिपाते नहीं थे जिसके बदले में उन्हें इतना कुछ मिला था।[75]

इसके बाद कुछ करने की जरूरत नहीं थी बल्कि चीजों को होने देना था। धार्मिक तनाव वहां पहले से था, राजनीतिक वर्ग सफलतापूर्वक विभाजित हो गए थे; नागरिक और आर्थिक जीवन प्रभावी ढंग से नियंत्रण में था; जो कुछ बचा था, जब नीति की मांग होती थी, इच्छित विस्फोट पैदा करने के लिए मनोवैज्ञानिक क्षणों में यहां-वहां तार खींच दिए जाते थे। वस्तुतः, ऊर्जा इतनी निर्भर थी और विनाशकारी ऊर्जा के साथ वातावरण इतना भरा होता था कि, जैसा हम देखेंगे, जब राजनीतिक और यहां तक कि अपने धार्मिक मनोभावों में भी समुदाय सबसे अधिक एकताबद्ध थे, बड़े विस्फोट कुछ ही क्षणों में अचानक पैदा कर दिए जाते थे। और हालांकि ये विस्फोट पूरी तरह प्रबंधित और सही समय चुनकर किए जाते थे, सरकार के खिलाफ एक के बाद दूसरे लगातार हुए राष्ट्रीय आंदोलन पर सफलतापूर्वक आक्रमण किए गए, उन्हें कमजोर किया गया और यहां तक कि उन्हें तोड़ डाला गया।

सर्व-इस्लामीकरण

लेकिन जबकि कांग्रेस की शक्ति घट रही थी, मुस्लिम लीग की प्राण वायु और उसका प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया। फरवरी, 1910 में इसने अपना संविधान बदला और सर आगा खां को अपना स्थायी अध्यक्ष नियुक्त किया तथा दिसंबर, 1910 में नागपुर में अपने सम्मेलन के अंत में सर आगा खां ने हिंदू-मुस्लिम मतभेदों के संबंध में कुछ समझ बनाने की दृष्टि से कई मुस्लिम नेताओं को लेकर कांग्रेस के उन नेताओं के साथ विचार-विमर्श किया जिन्होंने इलाहाबाद में हाल ही अपना

75. "द अवेकनिंग आफ इंडिया", रैमसे मैकडोनाल्ड

सम्मेलन समाप्त किया था। सन् 1911 में मौलाना मुहम्मद अली और मौलाना अबुल कलाम आजाद द्वारा संपादित दो प्रसिद्ध साप्ताहिक 'कामरेड' और 'अल-हिलाल' अस्तित्व में आए जिन्हें उन मुकदमों और संघर्षों में बड़ी भूमिका निभानी थी जिसने मुसलमानों की सरकार और अपनी राष्ट्रीय दृष्टि में भी सोच में आधारभूत परिवर्तन लाए। इस परिवर्तन को समझने के लिए हमें थोड़ा पीछे देखना और याद करना होगा कि मुगल शासन के विनाश के बाद ब्रिटिश शासन के साथ अपना तालमेल बनाने से इनकार करने वाले भारत के मुसलमानों ने अपने वास्तविक शासक के तौर पर तुर्की के सुल्तान की तरफ पहले ही देखना आरंभ कर दिया था। जबकि तुर्की इंग्लैंड का मित्र था, इंग्लैंड ने इस प्रवृत्ति को हतोत्साहित नहीं किया था; बल्कि इसने तुर्की की स्थिति का पुराने दिनों में लाभ उठाया था और भारतीय मुस्लिम राजाओं के साथ सौदों में सुल्तान की मध्यस्थता हासिल की थी। तुर्की के लिए मुस्लिम मनोभाव उन अवसरों पर आमतौर पर काफी प्रकट होते थे जब तुर्की पर पश्चिमी शक्तियां आक्रमण करती थीं या उनसे उसे खतरा होता था और ग्रीस के साथ इसके युद्ध के दौरान इन लोगों ने सुल्तान के साथ अपनी इतनी पहचान बना ली थी कि उसकी विजय पर ऐसा लगा, मानो यह उसकी अपनी हो। जुम्मे की नमाज में तुर्की के सुल्तान के नाम पर दुआ करना स्थापित परंपरा बन गई थी; लेकिन इसके बाद से सुल्तान अब्दुल हमीद के नाम को नया महत्व हासिल हो गया। इस बीच तुर्की को लेकर ब्रिटेन का रवैया मित्रता से विरोध में बदल गया और अपने खतरे को देखते हुए सुल्तान अब्दुल हमीद ने ब्रिटेन की विरोधी नीति के खिलाफ सर्व-इस्लामीकरण आंदोलन आरंभ कर दिया था। उसका लक्ष्य उस धार्मिक मनोभाव का राजनीतिक उपयोग कर अपनी शक्ति मजबूत करना था जो पूरी दुनिया के मुसलमानों के बीच आम भाईचारे के रूप में बना था। इस लक्ष्य का इस्लाम के आध्यात्मिक मिशन से कोई लेना-देना नहीं था।[76] मुसलमानों की कल्पना और सहानुभूतियों को प्राप्त करने के लिए उसने हिजाज रेलवे की अपनी बड़ी योजना आरंभ की और इसने उसे मुस्लिम जगत में अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया। उसके समय के दौरान खिलाफत उतना लोकप्रिय कभी नहीं हो पाया। ये बाहरी प्रभाव बहुत समय तक काम करते रहे और भारतीय मुसलमानों को बाहरी मुस्लिम जगत की तरफ अधिक-से-अधिक ले जाते रहे।

दूसरी तरफ, जिस समय से वे लोग राजनीतिक तौर पर जाग्रत होना शुरू हुए, भारत में स्थितियां उनकी विलक्षण दृष्टि को अब भी अधिक गहरी करने

---

76. मुझे सुल्तान के निमित्त की निष्कपटता या अन्य चीजों पर सवाल उठाने का कोई कारण नहीं दिखता।—मौलाना जफरुल-मुल्क

लगीं। देशभक्ति अपने जन्म और प्रेरणा में मूलभूत तौर पर क्षेत्रीय होती है। भारतीय देशभक्ति के खिलाफ उनके विरोध और इसकी खतरनाक संभावनाओं पर उनके लगातार दोहराने ने उनकी सर्व-इस्लामीकरण वाली दृष्टि को खास तौर पर रेखांकित किया और बाहरी मुस्लिम जगत के साथ संबंध का उनका भाव लगभग अस्वाभाविक स्तर तक बढ़ गया।[77] सर्व-इस्लामीकरण में उनके सामने भारतीय राष्ट्रवाद से ज्यादा सहानुभूतिपूर्ण और आकर्षक आशाएं तथा इच्छाओं की तरुपंक्ति खुली दिखी क्योंकि इस नई तरुपंक्ति में उनकी कल्पना हिंदू राज के मर्मभेदी अत्याचार के खिलाफ उन्हें सुरक्षा मिल सकती थी और अनुकूल समय में संभावित मुस्लिम जगत प्रवलता के सपनों में अतिआनंद भी ले सकते थे। यह नई दृष्टि और भावना मुसलमानों के शिक्षित वर्गों को खास तौर पर समेटे थी जो विभिन्न मुस्लिम देशों के मामलों में गहरी रुचि ले सकते थे और उन विभिन्न राजनीतिक शक्तियों की प्रकृति और उद्देश्य को समझ सकते थे जिनसे ये देश रू-ब-रू थे। उन्होंने गहरे दुख और पराजय-भाव से यह महसूस करना शुरू कर दिया था कि ब्रिटिश सरकार, जिसका उन्होंने भारत में समर्थन किया और जिसे उन्होंने हिंदुओं के खिलाफ अपना मुक्तिदाता माना, ने भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उनका उपयोग सिर्फ औजार के तौर पर किया ताकि वह भारत की मदद और संसाधनों के जरिये व्यवहारतः मध्य-पूर्व के सभी मुस्लिम देशों को दास बना सके। इस अपराधबोध की वृद्धि ने उन्हें ब्रिटिश सरकार से

77. मुसलमानों ने भारतीय देशभक्ति के खिलाफ कभी प्रतिरोध नहीं किया। और सर्व-इस्लामीकरण के साथ उनकी सहानुभूति का भारतीय मामलों से कुछ भी लेना-देना नहीं था। सर्व-इस्लामीकरण पर आक्षेप करना इन दिनों कुछ लोगों का फैशन हो गया है। निस्संदेह, यह शब्द हाल ही एक फ्रांसीसी व्यक्ति ने शुरू किया है लेकिन किसी सुदूरवर्ती इलाके में भी रह रहे मुसलमानों के बीच आम और वास्तविक भाईचारे का विचार जो वस्तुतः सर्व-इस्लामीकरण का सत्व है, इन तेरह शताब्दियों के बीच इस्लाम का एक प्रमुख सिद्धांत रहा था। इस्लाम ने जाति, रंग या क्षेत्रीयता का कोई बंधन कभी स्वीकार नहीं किया।

यह तथ्य कि स्वर्गीय मोहम्मद अली, डा. अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद और भारत के लगभग सभी प्रमुख मुस्लिम राष्ट्रवादी अपने भारतीय सहधर्मियों के बीच सर्व-इस्लामीकरण के विचारों को फैलाने में मुख्य तौर पर सक्रिय रहे हैं, भारतीय देशभक्तों को यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि सर्व-इस्लामीकरण भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध नहीं है। इसके विपरीत यह हिंदुओं और मुसलमानों के बीच पुनः जुड़ाव में बहुत मददगार रहा है जैसा कि मौलाना मोहम्मद अली ने अपने कोकानाड़ा उद्‌बोधन में कहा भी। कम-से-कम वे जो सर्व-भारतीयकरण (सुधार के उपाय अध्याय के जरिये) की वकालत करते हैं, को सर्व-इस्लामीकरण को तिरस्कार से देखने का कोई कारण नहीं है।—मौलाना जफरुल-मुल्क

विरक्त कर दिया और उनके भय का उत्तरोत्तर भाव निस्तेज होता गया और इसने उनकी सर्व-इस्लामीकरण आशाओं को संभवतः नष्ट कर दिया तथा उनको अपने देश की ओर मोड़ दिया।

सन् 1911 के बाद भारत के अंदर और बाहर कई घटनाएं शृंखलाओं में हुईं जिसने दोनों समुदायों के संबंधों में लगभग अनपेक्षित तौर पर एक क्रांति ला दी।

बाहरी मुस्लिम देशों में संकट

भारत में यह समाचार पहुंचना आरंभ हो गया कि तुर्की, फारस और मोरक्को अंदरूनी बाधाओं और हलचलों तथा बाहरी कूटनीति से टूट रहे हैं। शरद् ऋतु तक त्रिपोली के नखलिस्तान में न भुलाए जाने वाले नरसंहारों और उस धनी तथा उर्वर राज्य पर इटली के गैरकानूनी बलात अधिकार की खबरें आईं। लगभग इसी समय ब्रिटिश सरकार की रजामंदी से रूस ने सिकातुल इस्लाम को फांसी दे दी जो फारस में उच्चतम धार्मिक व्यक्तित्व थे और जिन्हें मुस्लिम जगत में काफी मान-सम्मान हासिल था; मेशेद में बम विस्फोट किए गए और हवाई हमले से खुद मक्का को खतरा हो गया था।

विभाजन का अंत

जबकि मुसलमान इन चोटों से जूझ रहे थे, एक अन्य घटना घर के पास हुई जिसने पूरे समुदाय को वेग से हिला दिया। जनवरी, 1912 में अचानक ही बंगाल के विभाजन का अंत कर दिया गया और इससे उन लोगों की वे सभी आशाएं समाप्त हो गईं जो नौकरशाही ने उत्पन्न और प्रोत्साहित की थीं और जिसके लिए उन्होंने अपने भाई-बंधु के साथ इस तरह के कटु परिणामों के तौर पर संघर्ष किया था। ढाका के नवाब सलीमुल्ला खान कुछ ही महीनों के अंदर टूटे दिल के साथ गुजर गए। इस कदम का मुसलमानों पर जो असर हुआ, उसके आम प्रभाव को मौलाना मोहम्मद अली के शब्दों में वर्णित किया जा सकता है :

"अंधकार से आच्छादित और अशिक्षित मुसलमान बंगाल विभाजन को न बदला गया रहने देना चाहते थे। लेकिन वस्तुतः मैंने कभी भी विभाजन में यकीन नहीं किया। मैं आपको सिर्फ इस तथ्य के प्रति आगाह करना चाहता हूं कि इस सरकार ने मुसलमानों को बंगाल में हिंदुओं के खिलाफ अपने सहायक के तौर पर संघर्ष करने का आह्वान किया था। निस्संदेह, मैं निस्संदेह कहता हूं, हालांकि लार्ड कर्जन ने बदला लेने के तहत यह कार्रवाई की थी और यह अन्याय था लेकिन बंगाल के विभाजन ने मुसलमानों को कुछ हद तक लाभ पहुंचाया था। फिर भी जब सरकार ने पाया कि चीजें उसके लिए काफी गर्म हो रही हैं तो

उसने गर्म आलू की तरह मुसलमानों को छोड़ दिया। भारतीय राजनीति के इतिहास में इससे अधम विश्वासघात कभी भी नहीं हुआ था।

"इससे साफ कुछ भी यकीन नहीं दिला सकता कि अपने मित्र समुदायों के खिलाफ विदेशी सरकार के समर्थन पर उनकी निर्भरता ने इस तरह के विश्वासघातों की ओर उन्हें लगातार उन्मुख कर दिया। उन लोगों ने अब समझा कि चाहे अपना देश हो या विदेश वे इस तरह के समर्थन पर भरोसा नहीं कर सकते और इसने उन्हें सोचने पर मजबूर किया कि शायद अपने हितों के छोटे हिस्से को त्यागकर वे लंबे समय तक शांति से रह सकते हैं और अपने पड़ोसियों तथा साथी देशवासियों की मित्रता भी हासिल कर सकते हैं।"[78]

बाल्कन युद्ध

साल समाप्त होने से पहले इन कड़वे अनुभवों से अधिक कड़वे अनुभव होने थे। सन् 1912 की शरद् ऋतु में बाल्कन युद्ध छिड़ गया जिससे एक समय यूरोप से तुर्कों के बाहर निकाले जाने का खतरा पैदा हो गया। पूरा मुस्लिम समुदाय गहराई तक आंदोलित हो गया। मौलाना शौकत अली ने पहली बार राजनीति में प्रवेश किया और खुद्दामन-ए-काबा नाम से परिचित अपने प्रसिद्ध संघ को बनाना उन्होंने शुरू किया। डा. एम.ए. अंसारी ने तुर्की जाने वाले रेड क्रेसेंट मिशन का नेतृत्व किया। मौलाना मोहम्मद अली ने अपने 'कामरेड' में इतनी कड़वाहट और इतनी प्रबलता से लिखना आरंभ किया कि नौकरशाही ने प्रेस कानून के तहत उसका मुंह बांधने का प्रयत्न किय।।

कानपुर मस्जिद वारदात

जब मुसलमानों की भावनाएं इस हद तक कड़ुवाहट वाली और प्रतिरोधात्मक थीं, कानपुर की मस्जिद वारदात हुई जिसमें हिंदू मुसलमानों के साथ कड़ाई से खड़े हुए। मुसलमानों के शिक्षित वर्ग ने इसका लाभ उठाया और जनता को सफलतापूर्वक उस स्तर तक जगाया जितना इससे पहले कभी नहीं जगाया गया था। देश के तरंगित वातावरण में आंदोलन जंगल की आग की तरह फैला और कुछ ही महीने में पूरा देश जल उठा। साल समाप्त होने से पहले लार्ड हार्डिंग को कानपुर खुद आना और मामले का समाधान करना पड़ा।

लखनऊ संधि

इन घटनाओं से मुस्लिम समुदाय के नजरिये में गंभीर परिवर्तन होना ही था। यह

---

78. कोकानाड़ा कांग्रेस, 1923 में एम. मोहम्मद अली का अध्यक्षीय भाषण

परिवर्तन इसके कांग्रेस के और निकट आने तथा देश के अंदर होने वाले आंदोलन में उनकी और गहरी रुचि लेने के तौर पर प्रदर्शित हुआ। इसी अवधि के दौरान मुस्लिम लीग ने अपना आदर्श बदला और अपने मुख्य लक्ष्य के तौर पर भारत के लिए स्व-शासन की प्राप्ति तय की। ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति से संबंधित बात सन् 1912 में गर्मागर्म बहस के बाद त्याग दी गई। सन् 1914 में युद्ध छिड़ गया। जहां 'अल-हिलाल' अपनी शुरुआत से ही मुसलमानों की कांग्रेस से विरक्ति की उनकी नीति की आत्मघाती प्रवृत्ति की ओर इशारा कर रहा था और उनसे भारतीय राजनीतिक आंदोलन में अपनी भागीदारी करने को कह रहा था, वहीं 'कामरेड', जो अब तक विचार के अलीगढ़ समूह का प्रचारक था, ने सन् 1914 में अपनी नीति में परिवर्तन किया और राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर भारतीय मुसलमानों को ले जाने लगा। जर्मन आक्रमण और मशीनीकरण के खिलाफ भारत को बचाने के नाम पर सरकार ने सन् 1915 में भारतीय सुरक्षा कानून पारित किया और उसी साल इसके प्रावधानों के तहत मौलाना अबुल कलाम आजाद, मौलाना हसरत मोहानी और अली बंधुओं को नजरबंद कर दिया। काउंसिल चैंबर में मौलाना मजहरूल-हक द्वारा रखे गए सवालों के जवाब में सरकार की तरफ से वस्तुतः कहा गया कि मौलाना अबुल कलाम आजाद पर भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के साथ सहानुभूति रखने का संदेह था और उन्होंने मुसलमानों को इसमें शामिल होने के लिए प्रेरित किया। सरकार की दमनकारी नीति के खिलाफ प्रतिक्रिया के तौर पर लीग का कांग्रेस की ओर बढ़ना जारी रहा। सन् 1915 में यह आंदोलन चरम पर पहुंच गया और बंबई में अपने सम्मेलन में लीग ने दबंग और प्रमुख कांग्रेसी मौलाना मजहरूल-हक, जिन्हें उसने अपना अध्यक्ष चुना था, को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ स्थायी समझौते तक पहुंचने के लिए अधिकृत किया। अगले साल लखनऊ में ऐतिहासिक कांग्रेस सम्मेलन में प्रसिद्ध संधि पत्र तैयार किया गया और इसके बाद से दोनों समुदायों का राजनीतिक जीवन आम धारा में बहना आरंभ हो गया।

लेकिन यह एकता बड़ी कीमत चुकाकर की गई थी; क्योंकि संधि ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धांत स्वीकार किया और अलग मतदाता समूहों की अनुशंसा की। हालांकि उस समय इसने दो समुदायों के बीच शक्तिशाली गठजोड़ के रूप में काम किया, वर्तमान लाभ के लिए इसने निस्संदेह अपने भविष्य को बंधक बना दिया। हम समझते हैं कि अगर उस समय अलग मतदाता समूहों को छोड़ दिया जाता तो नौकरशाही के लिए दो समुदायों का विभाजन करना असंभव होता जैसा करने में कुछ वर्ष बाद वह सफल रही। लेकिन उस समय संधि आंदोलन आगे बढ़ाने में कुछ हद तक मददगार रही।

सन् 1916 का साल भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में काल निर्धारक रहा।

यह वह साल था जिसमें मुस्लिम समुदाय एक पीढ़ी से अधिक तक राष्ट्रीय आदर्श से भटकने के बाद राष्ट्रीय परिदृश्य में वापस हुआ। इसकी अस्थिरता विभिन्न तरह के अनुभवों से भरी थी जिनमें निराशा और दुख प्रमुख था लेकिन इनके जरिये इसने अनुभव, शक्ति और संगठन हासिल कर लिया था। यही वह साल था जिसमें भारतीय राष्ट्रवाद का उन्नत वर्ग, जो सीधी कार्रवाई की सोच के कारण अपने दुर्निवार और परस्पर विरोधी ब्रिटिश विरोधी पूर्वाग्रह तथा प्रवृत्तियों की वजह से 1907 से कांग्रेस से अलग था, फिर कांग्रेस की ओर वापस हुआ। अपने छह साल के कारावास को पूरा करने के बाद लोकमान्य तिलक वापस आए थे और राष्ट्रवादी शक्तियां पहले ही उनके इर्द-गिर्द जमा होनी शुरू हो गई थीं। शक्तिशाली थियोसाफिकल संगठन के अपने समर्थन और लोग तथा धन में बड़े संसाधनों से संपन्न श्रीमती बेसेंट ने भी पूरी तरह अनपेक्षित तौर पर राजनीतिक संघर्ष में खुद को पूरे हृदय से लगाने का निर्णय किया। उनकी पहली उपलब्धि कांग्रेस मत के लिए समझौतावादी फार्मूला बनाकर मध्यमार्गी और अतिवादी पक्षों के बीच शांति लाना था। इस तरह, मुसलमान, अतिवादी, मध्यमार्गी–सभी एक साथ लखनऊ कांग्रेस में मिले। इस समय तक होम रूल आंदोलन पूरी तरह जोर पर था। मुसलमान भी तहेदिल से इसमें शामिल हुए थे और इसकी तीव्रता इतनी अधिक थी कि कुछ ही माह के अंदर ऐसी स्थिति बन गई जिसने सरकार को एक किनारे लगा दिया और वह श्रीमती बेसेंट को गिरफ्तार करने को बाध्य हो गई। इस घटना से देश में मानो तूफान आ गया और उनकी रिहाई की पूरे देश ने एकसाथ मांग की।

आरा दंगे

जब आंदोलन पूरी तरह जोर पर था और पूरे देश भर में हिंदू तथा मुसलमान पूरे सहयोग और सदेच्छा के साथ काम कर रहे थे, एक घटना हुई जो अनोखी थी क्योंकि यह बेसुरी थी। यह आंदोलन पर बम की तरह गिरा और इसने इसकी गति रोक दी होती, अगर आने वाले दिनों में इसे दुर्निवार न बनाया गया होता। आरा में हिंदू-मुस्लिम दंगे इतने विस्तृत पैमाने पर और तीक्ष्णता में इतने चौंकाने वाले रूप में भड़के कि उस समय तक हिंदू-मुस्लिम झगड़ों के इतिहास में इसके जैसा कभी नहीं सुना गया था। दंगे 22 सितंबर, 1917 को आरंभ हुए और दो दिनों के अंदर 40 वर्ग मील के लंबे क्षेत्र में दंगे शुरू हो गए जो हिंदू उग्र भीड़ों के हाथों में चले गए।

दो समुदायों की भावनाओं की इस प्रकृति के प्रकटीकरण के प्रभाव की अच्छी तरह कल्पना की जा सकती है। पूरा मुस्लिम समुदाय अनपेक्षित रवैये और दुर्भाग्य के विस्तार से संदेह में पड़ गया जिसके मर्मभेदी विवरण कई महीनों तक

प्रेस में छपते रहे। लेकिन शाबाशीपूर्ण और अनोखी शांति के साथ इसने अपने राजनीतिक लक्ष्य और प्रयास से विचलित होने की अपने को अनुमति दिए बिना दर्दभरी कठिन परीक्षा पास कर ली। और राष्ट्रीय आंदोलन पहले की तरह उत्साह से जारी रहा। इतिहास अपने आप को दुहरा रहा था। जब दुख अभी ताजा ही था, अतिवादियों से मध्यमार्गियों को अलग करने की नीयत से बनाई गई ब्रिटिश योजना की मार पड़ी। संवैधानिक संशोधनों के बारे में सूचित करते हुए अगस्त, 1917 में अपनी प्रसिद्ध घोषणा पहले ही कर चुके श्री मोंटागु चीजों को व्यक्तिगत रूप से देखने और अपने पक्ष में विचार उत्पन्न करने के लिए इस बार भारत आए। अपनी मांगों के लिए कांग्रेस से मुस्लिम लीग को अलग करने की कोशिश की गई। लेकिन इसके बावजूद दोनों संगठनों के नेताओं द्वारा संयुक्त ज्ञापन सौंपा गया। लोगों को मनाने की श्री मोंटागु की नीति के परिणाम के तौर पर श्रीमती बेसेंट रिहा कर दी गईं। उनकी रिहाई का पूरे देश ने अपनी पहली अशुद्धि न होने योग्य विजय के तौर पर स्वागत किया और आंदोलन का बढ़ना और जनता के बीच फैलना जारी रहा।

कतरपुर दंगे

सन् 1918 में संयुक्त प्रांत के सहारनपुर जिले के कतरपुर में एक अन्य गंभीर हिंदू-मुस्लिम दंगा भड़क उठा। इस सिलसिले में मुख्य तथ्य यह नोट करने वाला है कि सन् 1918 में हिंदू और मुसलमान अपने राजनीतिक लक्ष्य और प्रयास में लगभग पांच वर्षों के लिए पूरी तरह एकताबद्ध थे और इसलिए उनके सामाजिक संबंध बहुत बेहतर हो गए थे तथा उनकी धार्मिक कटुता काफी कम हो गई थी। फिर भी एक राष्ट्र के तौर पर बाहरी छिपे हुए कूट-प्रबंध से अपने को सुरक्षित रखने की बेचारगी कायम रही। इस बेचारगी का कारण यह था कि उच्च और शिक्षित वर्गों ने आम जनता के जीवन में या तो कुछ ही या बहुत कम रुचि ली और राजनीतिक मामलों में लीन कांग्रेस इन बगल के आक्रमणों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए कोई प्रभावी योजना नहीं बना सकी। परिणामस्वरूप, प्रयास और लक्ष्य की राजनीतिक एकता अपने साथ अतिआवश्यक सामाजिक तथा धार्मिक सुरक्षा एवं शांति लाने में विफल रही। लेकिन बाहर से बहुत शक्तिशाली प्रभावों और अंदर से बड़ी व्याकुलताओं के बावजूद हिंदू-मुस्लिम एकता और सहयोग की धारा का ऊपर, और ऊपर बढ़ना जारी रहा।

पंजाब और खिलाफत

सन् 1919 खास वर्ष रहा जिसमें भारतीय राजनीति की रंगभूमि में महात्मा गांधी का प्रवेश हुआ। आरंभ से ही वह मुसलमानों में विश्वास जगाते रहे जो किसी

नेता ने नहीं जगाया था। उन्होंने रौलेक्ट बिलों के खिलाफ आंदोलन का नेतृत्व किया और सरकार की तिरस्कारपूर्ण नीतियों के खिलाफ मुक्ति प्राप्त करने के तौर पर सत्याग्रह करने के अपने कार्यक्रम को देश के सामने पहली बार पेश किया।

इस आंदोलन की प्रेरणा के तहत हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के इतने निकट आए जितने वे सन् 1857 की लड़ाई के बाद कभी नहीं आए थे। मैत्री उच्च स्तर तक तब पहुंच गई जब 29 मार्च को दिल्ली के अधिकारियों द्वारा की गई फायरिंग के परिणाम के तौर पर कुछ हिंदू और मुस्लिम युवक मारे गए। शवयात्रा में बड़े अनुराग भरे दृश्यों के बीच हिंदुओं और मुसलमानों की भारी भीड़ शामिल हुई। अब तक अपनी गतिविधियां सामाजिक तथा शैक्षिक सुधार पर सीमित रखने वाले स्वामी श्रद्धानंद राजनीति के चक्रवात में धकेल दिए गए। सैन्य पिकेट की बहादुरी से अवज्ञा कर वह हिंदुओं और मुसलमानों--दोनों के उस वक्त हीरो बन गए। छह अप्रैल को हुई ऐतिहासिक हड़ताल को चकित करने वाला समर्थन मिला और इसने भारतीय राजनीति का चेहरा बदल दिया। इसने देश को नई गति दी और इसकी छिपी हुई शक्ति का उद्घाटन किया। सीमा से अधिक सशंकित सरकार ने नए आंदोलन को दबाने के लिए अपना दिमाग तैयार कर लिया। संकट पंजाब में आया। अमृतसर में 9 अप्रैल को रामनवमी उत्सव मनाया गया। एक बड़ा जुलूस निकला जिसमें बड़ी संख्या में मुसलमान शामिल हुए और दोनों समुदायों के बीच भ्रातृभाव के पूर्ण समागम के उत्साही दृश्य थे। एकता के इन लोकप्रिय प्रदर्शनों तथा स्पष्टताओं से पीड़ित और क्रुद्ध सर माइकेल ओ'डायर ने डा. सत्यपाल और डा. सैफुद्दीन किचलू का अगले ही दिन निर्वासन कर दिया। इन निर्वासनों ने लोगों की भावनाओं को और उत्तेजित कर दिया तथा उन्होंने प्रदर्शन किए। शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाई गईं। कई लोग मारे गए और कई घायल हो गए। इससे उत्तेजित भीड़ ने कुछ प्रतिक्रियात्मक हिंसा की। परिणामस्वरूप, अमृतसर को सैन्य अधिकारियों के हवाले कर दिया गया।

स्थिति पर नियंत्रण के लिए महात्मा गांधी ने पंजाब जाने का फैसला किया। पंजाब सीमा पार करने पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और बंबई प्रेसिडेंसी भेज दिया गया। उनकी गिरफ्तारी की खबर ने पूरे देश को हिला दिया। गांधी जी की गिरफ्तारी के संबंध में लाहौर में 10 को एक प्रदर्शन किया गया जिसमें शांतिपूर्ण प्रदर्शन पर गोलियां चलाई गईं। कुछ लोग मारे गए और कई लोग घायल हो गए। ब्रिटिश राज की शक्ति का जनता के सामने प्रदर्शन करने के लिए जनरल डायर ने 13 अप्रैल, 1919 को जलियांवालाबाग कांड को अंजाम दिया जिसमें बिना भेदभाव और बिना पूर्व चेतावनी के निर्दोष हिंदू, मुसलमान और सिख पुरुष, महिलाएं तथा बच्चों को गोली मार दी गई। गोलियां इस तरह

चलाई गईं ताकि यथासंभव अधिक से अधिक लोग मारे जाएं और घायल किए जाएं। पंजाब में मार्शल ला लगा दिया गया और लोगों के साथ जो अत्याचार और अपमान किए गए, वे ब्रिटिश प्रशासन के इतिहास में सबसे काले अध्यायों में से एक हैं।

गुजरात में कुछ भीड़ वाली हिंसा के परिणामस्वरूप महात्मा गांधी ने आंदोलन स्थगित कर दिया। सरकार को पंजाब में हुई घटनाओं की जांच के लिए हंटर समिति की नियुक्ति करनी पड़ी। कांग्रेस ने भी जांच समिति का गठन किया। इस तरह पूरे देश की आंखें पंजाब की तीव्र वेदना पर टिकी रहीं। इन आम वेदनाओं ने देश को नई निश्चयात्मकता और संयोग दिया। इनके अलावा मुसलमानों की खिलाफत अपेक्षाएं थीं। दिल्ली में मुस्लिम कांफ्रेंस के अध्यक्ष के तौर पर महात्मा गांधी ने केंद्रीय खिलाफत कमेटी के आयोजन में मदद की। इस कांफ्रेंस में शांति आयोजना के बहिष्कार का निर्णय भी लिया गया। इस निर्णय का देश भर के हिंदुओं और मुसलमानों ने संयुक्त रूप से उत्साहपूर्वक पालन किया। मुसलमानों के बीच पहले से ही लोकप्रिय हो चुके स्वामी श्रद्धानंद को दिल्ली में महान मस्जिद (जामा मस्जिद) के धर्मोपदेश करने के आसन से उपदेश देने का विशिष्ट सम्मान दिया गया। चरम तब आया जब अली बंधु और अन्य विशिष्ट मुसलमान बंदी अपनी रिहाई के बाद नजरबंदी के अपने स्थानों से सीधे अमृतसर में हुए कांग्रेस सम्मेलन में पहुंचे।

सन् 1920 ने राष्ट्रीय और खिलाफत आंदोलनों का समन्वय देखा। राष्ट्रवादी भारत पंजाब की गलतियों से अपनी गहराई तक विचलित हो गया था और युद्ध के स्थगन ने तुर्की के विखंडन का सवाल प्रमुख कर दिया था और इसने मुसलमानों के बीच गहरी उथल-पुथल पैदा कर दी थी। मुसलमानों ने लोकमान्य तिलक से संपर्क किया और उन्होंने खिलाफत के उद्देश्य को पूरे दिल से समर्थन का आश्वासन दिया। तब उन लोगों ने महात्मा गांधी से संपर्क किया और आंदोलन के नेतृत्व का अनुरोध किया। वह अपने असहयोग कार्यक्रम की स्वीकारोक्ति की शर्त पर तैयार हुए। अगस्त, 1920 तक स्थिति स्पष्ट हुई। खिलाफत दिवस मनाया गया और पूरे देश में सार्वजनिक सभाओं में असहयोग कार्यक्रम अपनाए गए। कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में, जहां बड़ी संख्या में मुसलमान शामिल हुए, असहयोग कार्यक्रम अपनाया गया और इस समय से स्वराज और खिलाफत आंदोलन लगभग एक में मिल गए। सन् 1920 और 1921 में कांग्रेस कमेटियों में बड़ी संख्या में मुसलमान थे और खिलाफत कमेटियों में हिंदू अध्यक्षों तथा सचिवों को गिना जा सकता था। हिंदुओं ने महसूस करना आरंभ कर दिया था कि भारत के भविष्य के साथ मध्य-पूर्व की समस्या किस तरह निकट से जुड़ी हुई थी। और मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग की आंखें एक

बार अपने ही देश की तरफ मुड़ीं, उन लोगों ने भारत के अंदर और बाहर भारतीय राष्ट्रवाद की बड़ी संभावनाओं को समझना आरंभ कर दिया और सन् 1921 तथा 1922 के असहयोग के दिनों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भागीदारी वास्तविक, सच्ची और ईमानदार थी। भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में यह गौरवशाली समय था।

मोपला विद्रोही

लेकिन जब यह अवधि पूरे उत्कर्ष पर थी, देश के सुदूरवर्ती कोने से अनपेक्षित रूप से खबर आई कि मालाबार के मोपला शक्तिमान सरकार के खिलाफ खुले विद्रोही हो गए हैं। मार्शल ला की घोषणा कर दी गई; और जब आक्रमणकारी जिलों की पहचान इस तरह बाहर से कष्टकारी प्रदेशों के तौर पर की गई, इस विद्रोह के अचानक हिंदुओं के खिलाफ बदल जाने का समाचार आना शुरू हो गया। कुछ महीनों तक यह भयंकर घटनाक्रम प्रेस में छाया रहा और लोगों को जलाता तथा कड़वा बनाता रहा। आरा और कतरपुर दंगों ने मुसलमानों की सहनशीलता तथा देशभक्ति की परीक्षा ली थी; मालाबार दंगों ने इसी तरह हिंदुओं की कठिन परीक्षा ली।

शिक्षित और राष्ट्रवादी वर्गों ने संतुलन साधने की हरसंभव कोशिश तो की ही। लेकिन दो समुदायों की एकता की खुशी खत्म हो गई और पूरे भारत में आम जनता का मन व्यावहारिक तौर पर विचलित हो गया। फिर भी, उनका राजनीतिक जीवन और प्रयास एकताबद्ध और दुर्निवार बना रहा। प्रिंस आफ वेल्स का बहिष्कार बहुत अच्छी तरह सफल रहा और जब कांग्रेस कार्यकर्ता संगठनों को गैरकानूनी घोषित किया गया, हिंदू और मुस्लिम युवकों ने समान उत्साह से उस कदम की अवज्ञा की। लेकिन तब ही, फरवरी, 1922 में चौरी-चौरा कांड हुआ और असहयोग आंदोलन स्थगित कर दिया गया। इसके तुरंत बाद महात्मा गांधी को जेल भेज दिया गया। अली बंधुओं को पहले ही 1921 में जेल में डाल दिया गया था। आंदोलन पराकाष्ठा पर पहुंच गया था और इसका अवसान आरंभ हो गया था। दोनों समुदाय युद्ध की गर्मी के आगोश में थे और आंदोलन के अचानक स्थगन ने उनकी उत्तेजित भावनाओं का गुबार निकालने के लिए उचित रास्ता नहीं छोड़ा था।

मोपला विद्रोह के दौरान कई हिंदुओं का इस्लाम में जबरन धर्मांतरण कराया गया था। उलेमाओं और प्रमुख मुस्लिम नेताओं ने इन धर्मांतरणों की निंदा की तथा उन्हें निष्फल एवं निःसत्व करार दिया। यहां तक कि कुछ कट्टरपंथी पंडितों ने भी जिन्हें अब तक शुद्धि से कुछ भी लेना-देना नहीं था, इस तरह धर्म परिवर्तन करने वालों को वापस हिंदू धर्म में लेने की अनुमति दी। इस तरह उन लोगों

के पुनः धर्म परिवर्तन का प्रश्न आगे आ गया जिन्होंने हाल में इस्लाम में धर्म परिवर्तन किया था। मालाबार में जबरन धर्म परिवर्तन की कहानियों ने शुद्धि आंदोलन में इतना उत्साह पैदा किया और उसे इतना लोकप्रिय कर दिया जितना इससे पहले कभी नहीं हुआ था।

राजनीतिक पक्ष पर भी एक प्रतिक्रिया हुई। आपसी झगड़ों और विवादों ने कांग्रेस को परस्पर विरोधी गुटों और पार्टियों में बांट दिया। सरकार फिर प्रबल हो गई और आंदोलन के दबाव से तुलनात्मक रूप से मुक्त होने के कारण वह वर्तमान में नैतिक तौर पर झुके होने का फायदा उठाने में बेहतर स्थिति में थी। अब तक विभाजक सामाजिक शक्तियों को दबाए रखने वाले राजनीतिक दबावों के कमजोर पड़ने से सांप्रदायिक लालसाओं तथा सांप्रदायिक रुझानों को तेजी से पुनः जन्म लेने का मौका मिल गया। दिसंबर, 1922 में गया कांग्रेस होने से पहले देश में न पहचाने जाने वाले कई परिवर्तन हो गए थे।

गया कांग्रेस ने राजनीतिक दलों के बीच विभेद व्यावहारिक तौर पर पूरे कर दिए और कांग्रेस को इस तरह विभाजित कर दिया, मानो 1907 में सूरत कांग्रेस के बाद कुछ हुआ ही नहीं था। उस साल अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा नियुक्त नागरिक अवज्ञा जांच समिति ने किसी आक्रामक राजनीतिक अभियान की सभी आशाओं को पहले ही बिखेर दिया था और इससे निकलने वाली स्वराज पार्टी का एकमात्र लक्ष्य भारतीय विधान परिषदों पर कब्जा करना था। कांग्रेसियों के एक प्रबल वर्ग ने इसे उन सिद्धांतों से मूलभूत रूप से विचलन माना जिसे कांग्रेस ने राष्ट्रीय संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए अपनाया था। काउंसिल प्रवेश के नए कार्यक्रम ने मुस्लिम कार्यकर्ताओं में भी प्रबल अवरोध पैदा किया क्योंकि मुस्लिम धर्मोपदेशकों ने धार्मिक आधारों पर सरकार के साथ असहयोग का कार्यक्रम तैयार किया था।

इन सबका मतलब भ्रम और संघर्ष था। इन सबके ऊपर, जब सम्मेलन अभी खत्म ही हुआ था, आगरा जिले में बड़ी संख्या में मलकानाओं के धर्म परिवर्तन की अफवाह उड़ी जिसने मुसलमानों को निराश किया और दोनों समुदायों के बीच कटुता में वृद्धि कर दी।

स्थिति प्रतिक्रियावादियों के हाथों में फिसली

दोनों ही तरफ सांप्रदायिक स्थिति पूरी तरह प्रतिक्रियावादियों के हाथों में चली गई। शुद्धि और तंजीम चलन बन गया और एक तरफ तबलीगी मुल्लाओं तो दूसरी तरफ शुद्धि नेताओं की लोकप्रियता बढ़ती गई। इस तरह की गतिविधियों के कारण अनिवार्यतः विभिन्न स्थानों—मुल्तान, अजमेर, सहारनपुर, आगरा और अन्य जगहों में हुए दंगों ने सांप्रदायिक नेताओं को नई प्रतिष्ठा तथा शक्ति दे दी। शुद्धि

आंदोलन का और विस्तार किया गया। स्वामी श्रद्धानंद ने अपना दिल और अपनी आत्मा इसमें लगा दी। तबलीगियों ने अपनी तरफ अपने प्रयास दुगुने रूप से इसमें लगा दिए। लगभग इसी समय दिल्ली के एक धार्मिक नेता द्वारा जारी एक पैंफ्लेट प्रकाश में आया जिसमें उन्होंने मुसलमानों को अपने आप को जी-जान से धर्म परिवर्तन में केंद्रित करने को कहा था और सुझाव दिया था कि कैसे विभिन्न पेशे वाले और यहां तक कि वेश्याएं भी इस लक्ष्य को पूरा करने में लग सकती हैं।[79] इस पैंफ्लेट की सभी निष्पक्ष मुसलमानों ने निंदा की लेकिन इसने हिंदुओं के बीच स्वाभाविक तौर पर विचलन की भावना पैदा की। राजनीतिक नेताओं के पूर्वाग्रहों ने इस बढ़ते ज्वार-भाटा के साथ संघर्ष करने का उन्हें बहुत कम समय दिया या या अपना रूझान दिखाया।[80] काउंसिल के कार्यक्रम ने

---

79. यूरोप में निर्वासन में रह रहे एक बंगाली नेता ने खुद ही एक पत्र में हिंदू राज की स्थापना की खुले तौर पर वकालत की और इस तरह पूरे भारत में मुस्लिम भावनाओं को गहरे ढंग से झिंझोड़ा। इससे पैदा हुई कटुता घट सकती थी, अगर सभी निष्पक्ष हिंदुओं ने इसकी निंदा की होती या इसे अस्वीकार किया होता।—मौलाना जफरुल-मुल्क

80. यह तर्क उचित नहीं लगता। प्रसिद्ध कथाकार और पत्रकार मुंशी प्रेमचंद ने सन् 1924 में कानपुर के "जमाना" में प्रकाशित अपने लेख में साफ तौर पर दिखाया है कि अखिल भारतीय हिंदू नेता इन दुष्ट गतिविधियों के खिलाफ खुलकर आने और संघर्ष करने में विफल रहे। उन्होंने अली बंधुओं और अन्य खिलाफतवादियों जैसे मुस्लिम नेताओं की काफी प्रशंसा की थी जिन्होंने स्थिति से निबटने की प्रबलता से कोशिश की और अपने ही सहधर्मियों के खिलाफ संघर्ष किया।

वस्तुतः, अगर हम तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में देखते हैं और देश के सम्मुख उन्हें स्वतंत्रता से रखने का साहस रखते हैं तो इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वर्गीय मौलाना मोहम्मद अली, उनके बड़े भाई और अनगिनत अन्य खिलाफत नेता और कार्यकर्ता हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए खड़े हुए तथा उन्होंने न सिर्फ अपने समुदाय के प्रतिक्रियावादियों बल्कि डा. किचलू, बदायूं के मौलाना अब्दुल मजीद और अन्य लोगों के खिलाफ संघर्ष किया जिन्होंने सन् 1925 में तंजीम आंदोलन आरंभ किया था जबकि कांग्रेस के महान हिंदू नेताओं की मंडली में से कोई भी हिंदू समुदाय के प्रतिक्रियावादियों या इस तरह के साथी कार्यकर्ताओं पर नियंत्रण के लिए आगे नहीं आया जो कांग्रेस से हट गया हो या इसे खुलकर अपमानित कर रहा हो और अपने प्रायः स्वीकृत नेताओं के खिलाफ बहुत अधिक दुष्प्रचार कर रहा हो।

कांग्रेस के हिंदू नेताओं ने इसी तरह के रवैये के कारण सन् 1926 में केंद्रीय खिलाफत कमेटी को अपनी स्थिति पर पुनर्विचार और अपने संविधान में आवश्यक परिवर्तनों के निर्णय लेने को बाध्य होना पड़ा ताकि खिलाफत कार्यकर्ता भारतीय मुसलमानों के अधिकारों, व्यक्तियों तथा संपत्तियों की सुरक्षा में मदद देने

लोकप्रिय मानसिकता के प्रभावों के प्रति उन्हें ग्रहणशील बना दिया था। परिणामस्वरूप, सांप्रदायिकता के साथ संघर्ष की कांग्रेस की शक्ति सामूहिक तौर पर तथा पूरे दिल से बर्बाद हो गई थी और सन् 1922 से सन् 1924 तक सांप्रदायिकता हर सार्वजनिक गतिविधि में प्रचुर और प्रमुख हो गई थी।

दिल्ली और कोहट

अली बंधुओं और महात्मा गांधी की रिहाई ने नई आशाएं जगाईं लेकिन यह जल्द ही प्रमाणित हो गया कि स्थिति इतनी विषम और इतनी असाध्य हो गई है कि ये महान नेता भी इसे सफलतापूर्वक नहीं निबटा सकते। महात्मा गांधी की रिहाई के तुरंत बाद दिल्ली में दंगे हुए और जब महात्मा गांधी उनसे निबटने का प्रयत्न कर रहे थे, कोहट दुर्घटना हुई जिसके कारण महात्मा ने अपना ऐतिहासिक इक्कीस दिनों का उपवास किया जिसके जरिये उन्होंने दो समुदायों के पापों को प्रायश्चित से पवित्र करने का प्रयास किया। महात्मा गांधी के उपवास का स्थिति पर शमनकारी प्रभाव पड़ा। मौलाना मोहम्मद अली, जिनके महात्मा गांधी उस वक्त अतिथि थे, ने हिंदू-मुस्लिम व्याधि का इलाज ढूंढ़ने के लिए एकता सम्मेलन बुलाया। पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ यह सम्मेलन इस बात पर विचार के लिए अब तक हुई बैठकों में सबसे अधिक प्रभावी और प्रतिनिधित्व वाला था। यह दोनों समुदायों द्वारा प्रेम किए जाने वाले देश के स्वीकृत नेता के लंबे उपवास से उपजी गहरी भावनाओं के प्रभाव में हुआ था। लेकिन जब राष्ट्रवाद किनारे की उपासना हो गई हो, सांप्रदायिकता उन लोगों की वास्तविक पूजा हो गई थी जिनके पास समस्या के समाधान की कुंजी थी। सम्मेलन कुछ दिनों तक चला और इसने कई प्रस्ताव पारित किए। लेकिन उनमें ईमानदार प्रयास की कमी थी और वे निःसार बनी रहीं।

संगठन और तंजीम

परस्पर दोषारोपण से वातावरण भरा हुआ था। मित्रता गायब हो चुकी थी। हिंदू मानसिकता में एक खास तरह की प्रेत-बाधा थी। कांग्रेस का संगठन और जनता

में सक्षम हो सकें।

अगर हिंदू नेता अपने दायित्व में पूरी तरह विफल नहीं होते और अगर उन लोगों ने वह चरित्र तथा उद्देश्य के प्रति खरापन दिखाया होता, जिसने असहयोग की कठिन परीक्षा के दौरान बड़ी शुद्धि और त्याग किया था, तो बहुत कम संदेह है कि मौलाना मोहम्मद अली और अधिकांश भारतीय मुसलमानों का रवैया बहुत भिन्न होता जो सन् 1930 के नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान था।—मौलाना जफरुल-मुल्क

पर प्रभाव पूरी तरह राजनीतिक था। लेकिन खिलाफत आंदोलन का संगठन और मुसलमानों पर प्रभाव अपने असर में खास तौर पर धार्मिक था। हिंदुओं तथा मुसलमानों ने इसकी सफलता के लिए समान रूप से काम किया था लेकिन भिन्न नजरिये से; हिंदुओं की शक्ति राजनीतिक जबकि मुसलमानों की धार्मिक थी। इसलिए हिंदू सांप्रदायिक नेताओं ने महसूस किया कि राष्ट्रवादियों ने देश में ऐसी शक्ति की रचना में मदद की है जो अपनी संभावनाओं में उनके लिए काफी खतरनाक है। इसलिए उन्होंने हिंदू संगठन का नगाड़ा बजाया। इसकी प्रतिक्रिया में मुसलमानों ने तंजीम का उद्‌घोष किया। महावीर दल और अली गोल के नामों से कार्यकर्ताओं के हुजूम प्रशिक्षित और आपसी संघर्ष के लिए संगठित किए जाने आरंभ हो गए। और गो प्रश्न के समतुल्य मस्जिद के सम्मुख संगीत का सवाल प्रमुख हो गया। दंगे के अवसरों की सूची में यह जोड़ अपने उद्देश्य को पूरा करने के निमित्त बढ़िया से बुना गया था। गो प्रश्न साल में सिर्फ एक बार उठ सकता था और मुहर्रम एवं रामलीला सिर्फ लंबे अंतराल के बाद ही हो सकते थे, मस्जिद का सवाल हर जगह और हर समय उपलब्ध हो सकता था।

इस तरह भारत में सांप्रदायिक आंदोलन सशस्त्र तथा संगठित सांप्रदायिक शत्रुता के अपने अंतिम युग में पहुंच गया।

एकता सम्मेलन

जैसा कि हमने कहा है, समस्या की जटिल प्रकृति, राजनीतिक नेताओं के पूर्वाग्रह और चुनाव अभियानों की आवश्यकताओं–इन सबने मिलकर कांग्रेस के लिए सांप्रदायिकता के चंगुल में खुलकर तथा प्रत्यक्ष ढंग से आना लगभग असंभव बना दिया। लेकिन संघर्षरत गुटों के बीच शांति लाने और विभाजक मुद्दों पर किसी तरह के समझौते तक उन्हें लाने के लिए निरंतर, परोक्ष प्रयास की जरूरत थी। सन् 1923 में देशबंधु दास ने समझौते का एक प्रस्ताव तैयार किया। यह कोकानाडा में कांग्रेस के सामने आया। लेकिन यह स्वीकार नहीं किया गया। एक नया प्रारूप तैयार करने का जिम्मा डा. अंसारी और लाला लाजपत राय को सौंपा गया। उनका संयुक्त प्रारूप समय पर सामने आया लेकिन यह समान रूप से बेमानी रहा। दिल्ली में एकता सम्मेलन की वस्तुतः विफलता के बाद, जिसके बारे में हमने पहले ही उल्लेख किया है, एक अन्य सर्वदलीय सम्मेलन सन् 1924 के अंत में बुलाया गया जिसने सांप्रदायिक मुद्दों पर किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए महात्मा गांधी की अध्यक्षता में 100 सदस्यों की एक समिति नियुक्त की। यह समिति इससे पहले हुए एकता सम्मेलन से ज्यादा प्रभावी और कहीं अधिक प्रतिनिधित्व वाली थी। इस समिति की बैठक दिल्ली में हुई और आश्चर्यजनक प्रयासों के बाद

किसी भी मुद्दे पर किसी निर्णय पर पहुंचे बिना ही इसका सत्र अचानक स्थगित कर दिया गया। इन प्रयासों की विफलताओं ने स्थिति पर बिगड़ते प्रभाव को उत्पन्न करना जारी रखा क्योंकि इसने विवाद को और ज्यादा कलुष किया तथा लोगों के दिमाग में बेचारगी एवं निराशा का तत्व पैदा किया। हर विफलता राष्ट्रवादी नेताओं के हिस्से में दुर्बलता की स्वीकारोक्ति थी और उन लोगों की प्रतिष्ठा और शक्ति में इजाफा किया जिन्होंने देश को पाठ पढ़ाया कि सांप्रदायिक बुराइयों की वास्तविक औषधि शुद्धि और तबलीग, तंजीम एवं संगठन में बसती है। सन् 1926 का अंत गोहाटी कांग्रेस से ठीक पहले स्वामी श्रद्धानंद की हत्या से हुआ—यह एक ऐसी दुखद घटना थी जिसे उस समय के सांप्रदायिक मिजाज और उसके खतरनाक रुख के कुछ संकेत के तौर पर लिया जा सकता है।

लेकिन शांति के प्रयास जारी रहे। सन् 1927 में प्रसिद्ध दिल्ली प्रस्तावों को तैयार किया गया और एक अन्य एकता सम्मेलन बुलाया गया। इन सभी बातचीत के परिणाम अंततः कुछ सुधारों के साथ दिसंबर, 1927 में मद्रास कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कर दिए गए। इस सम्मेलन में मौलाना मोहम्मद अली और पंडित मदन मोहन मालवीय ने आंसुओं में भीगकर एक-दूसरे का आलिंगन किया और लगा जैसे अंततः भारत का भाग्य अधिक सौभाग्यशाली मोड़ लेने ही वाला है। लेकिन सम्मेलन के तुरंत बाद मद्रास निर्णयों को लेकर कठिनाइयां उठना शुरू हो गईं और पूरा सवाल सांप्रदायिक गुटों की तकरार में फिर फंसकर रह गया। परिणामस्वरूप, सन् 1928 में डा. अंसारी की अध्यक्षता में फिर एक अन्य सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया। इसने नेहरू कमेटी को नियुक्त किया। जब नेहरू रिपोर्ट सामने आई, देश आनंदित हो गया और लगा, मानो बहुप्रतीक्षित सर्वरोग-विघ्न औषधि मिल गई हो। लेकिन नेहरू प्रारूप पर विचार के लिए लखनऊ में बुलाए गए सम्मेलन ने मुस्लिम राजनीतिक गुटों के बीच उन अलगावों के बीज बो दिए जो अभी जन्म की प्रक्रिया में थे। इस सम्मेलन ने मौलाना शौकत अली को कांग्रेस के साथ सक्रिय शत्रुता में धकेल दिया और इस समय उनकी संपूर्ण ऊर्जा मुसलमानों के बीच कांग्रेस के प्रभाव को नीचा दिखाने में लगानी आरंभ हो गई। कहानी को पूरा करने के लिए हम उल्लेख कर सकते हैं कि नेहरू रिपोर्ट को सन् 1928 में राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता सम्मेलन में तात्कालिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। इस बीच श्री जिन्ना के ऐतिहासिक चौदह बिंदु सामने आ गए थे और जो अब भी दोनों समुदायों के बीच विवाद के लोकप्रसिद्ध कारण हैं।

कांग्रेस की कमजोर हालत

इन प्रयासों में कांग्रेस ने जो स्थिति प्राप्त की, वह मध्यस्थ की थी और इस लपेट में इसने अपने दोनों तरफ अपने संबद्ध समुदायों के हितों के सच्चे प्रतिनिधि के तौर पर अतिवादी सांप्रदायिकतावादियों को स्वीकार किया। इसने इन्हें समझौते के लिए जितना चिपकाया, देश की तरफ से सांप्रदायिक मामलों पर अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अपनी असंदिग्ध स्थिति को उतना ही नष्ट किया। परिणाम यह था कि सांप्रदायिक मामलों में वास्तविक नेतृत्व देकर राष्ट्रीय जीवन से सांप्रदायिकता को नष्ट करने के लिए प्रत्यक्ष और खुला संघर्ष करने की जगह कांग्रेस सांप्रदायिक ताकतों को बेहतर महत्व और प्रतिष्ठा देने लगी। यह निष्फल होना ही था क्योंकि यह समाज में स्वस्थ चित्त वालों को अपने को बलशाली बनाने का कोई अवसर नहीं देता था और सांप्रदायिक तत्वों को उपद्रवी गतिविधियों के जरिये दोनों पक्षों को वशीभूत करने का अवसर देता था।

अंतिम दशक के सांप्रदायिक दंगे

सांप्रदायिक मामलों में उनकी नीति की असरहीनता को एकता सम्मेलन की अवधि के दौरान हुए उन दंगों की सूची से समझा जा सकता है जिसकी हमने अभी समीक्षा की है। दंगों की निम्नलिखित तात्कालिक सूची, जिसमें हिंसा और निर्दयता का स्तर बढ़ता गया है, से पिछले दशक के दौरान समस्या के गहराते जाने को समझा जा सकता है।

1921	... मालाबार
1922	... मुल्तान
1923	... अजमेर, सहारनपुर, मुल्तान, अमृतसर, सिंध, जबलपुर, आगरा और रायबरेली
1924	... दिल्ली, कोहट, नागपुर, इंदौर और लखनऊ
1925	... कलकत्ता, इलाहाबाद और शोलापुर
1926	... दिल्ली
1927	... लाहौर, मुल्तान, बेतिया, बरेली, नागपुर और कानपुर
1928	... सूरत, हैदराबाद (दक्षिण) और कालिपटी
1929	... बंबई
1930	... आजमगढ़, ढाका, मुनरा, मेमेनसिंह और धारावी
1931	... बस्ती, बनारस, मिर्जापुर, आगरा और अंतिम लेकिन कम नहीं, कानपुर का बड़ा उपद्रव

7

उपचार विधियां

धर्मों की मूलभूत एकता

निश्चित तौर पर उनके धर्मों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हिंदुओं और मुसलमानों को अच्छे पड़ोसियों तथा साथी नागरिकों के तौर पर शांतिपूर्ण ढंग से रहने में असंभव बनाता है।

'मजहब नहीं सिखाता आपस में वैर रखना
हिंदी हैं हम वतन हैं हिंदोस्तां हमारा।'

''मजहब नहीं सिखाता'' और ''तुम राम कहो'' के अनुवाद अंग्रेजी किताब में हैं। हिंदी में इसकी जरूरत है, ऐसा मुझे नहीं लगता।

कवि इकबाल ने अपने बेहतर और गौरवशाली दिनों में इस तरह कहा।

इस्लाम और हिंदुत्व (या वस्तुतः विश्व के सभी प्रमुख धर्मों) के विभिन्न रूपों को रेखांकित करने वाले धार्मिक विचार में मूलभूत एकता है और दोनों धर्मों के सिद्ध पुरुषों, संतों और सूफियों ने इसे मान्यता दी है। यह एकता नीचे दी गई कविताओं में बहुत अच्छी तरह से प्रकट की गई है जिसे उद्धृत करने के प्रलोभन से हम अपने को नहीं रोक पा रहे हैं। हमने इन कविताओं की मुद्रित प्रतियां कानपुर, बनारस और अन्य स्थानों में वितरित कीं और वे अच्छे प्रभाव के साथ सार्वजनिक सभाओं में गाई भी जाती हैं।

1. 'तुम राम कहो, वो रहीम कहें, दोनों की गरज अल्लाह से है,
   तुम दीन कहो, वो धर्म कहें, मंशा तो उसी की राह से है।
   तुम इश्क कहो, वो प्रेम कहें, मतलब तो उसी की चाह से है,
   वो योगी हों, तुम सालिक हो, मकसद दिल-ए-आगाह से है।
   क्यों लड़ता है, मुर्ख बंदे! ये तेरी खामख्याली है,
   है पेड़ की जड़ तो एक वही, हर मजहब एक-एक डाली है।
2. बनवाओ शिवाला या मस्जिद, है ईंट वही, चूना है वही,
   मेमार वही, मजदूर वही, मिट्टी है वही, गारा है वही;
   तकबीर का जो कुछ मतलब है, नाकस की भी मंशा है वही,

तुम जिसको नमाज कहते हो, हिंदू के लिए पूजा है वही।
फिर लड़ने से क्या हासिल है? जी-फाहम हो तुम, नादां नहीं,
जो भाई पै दौड़ें गुर्रा कर, वो हो सकते इंसान नहीं।

3. क्या कत्ल ओ गारत खूँरेजी तारीफ यही ईमान की है?
क्या आपस में लड़कर मरना तालीम यही कुरआन की है?
इंसाफ करो, तफसीर यही क्या वेदों के फरमान की है?
क्या सचमुच ये खूंखारी ही आला खसलत इंसान की है?
तुम ऐसे बुरे अमल पर अपने कुछ तो खुदा से शर्म करो,
पत्थर जो बना रखा है 'सईद' इस दिल को जरा तो नर्म करो।'[81]

आम हिंदू भावना

संघर्ष का वास्तविक कारण दोनों धर्मों के मूल सिद्धांतों में नहीं है। कई मत हैं जो हिंदुत्व की आम परतों के अंदर भिन्नताएं, न सिर्फ शास्त्रोक्त और उपासना बल्कि उनमें भी दिखाते हैं जिन्हें हम मध्यवर्ती सिद्धांत कह सकते हैं जो कभी-कभी उनमें से कुछ के बीच और इस्लाम से भी बड़े होते हैं। उदाहरण के तौर पर, एक ईश्वर का मूल विचार इस्लाम और हिंदुत्व की अधिकांश उपधाराओं में आम है (एकमेवअद्वितीयम एक ही है, दूसरा नहीं; ला इलाह इल्लिलाह, वहादहू ला शरिकलाहु—ईश्वर को छोड़कर कोई देवता नहीं है)। लेकिन यह विचार हिंदुओं के बीच व्यक्तिगत ईश्वर, एक परोपकारी पिता और शासक से लेकर रचना को निर्देशित करने वाले मात्र यंत्रबद्ध प्राकृतिक शक्ति तक के रूप में बदलता रहता है। कुछ मत हैं जिनका दर्शन ईश्वर-विचार को कोई अहमियत नहीं देते हैं लेकिन जिनके अनुयायी, हिंदू-मुस्लिम सवाल के मद्देनजर, हिंदुओं के तौर पर लिए जाते हैं। इन मध्यवर्ती सिद्धांतों की इन भिन्नताओं के अतिरिक्त धार्मिक रीतियों और उपासना-विधि के विवरणों के मामलों में बड़े अंतर हैं। इन अंतरों ने पहले भी कभी-कभी भयंकर उपद्रव और निर्दयी संघर्षों को जन्म दिया है तथा अपने पीछे कटुता की परंपरा छोड़ी है। प्राचीन इतिहास ऐसी अवधियों को बताता है जब हमारी भूमि में सत्ता के लिए आर्यों और अनार्यों के बीच, ब्राह्मणों और क्षत्रियों, हिंदुओं और बौद्धों, हिंदुओं और जैनों तथा शैवों और वैष्णवों के बीच गंभीर संघर्ष हुए थे। लेकिन इन प्राचीन दुश्मनियों और संघर्षों के बावजूद समय ने इन लोगों और मतों के बीच संबंध बनाए हैं और मित्रता के युग पैदा किए हैं जिन्हें हम आम हिंदू भावना कह सकते हैं।

आम मुस्लिम भावना

मुसलमानों के बीच भी कई उपधाराएं हैं जो कुछ मामलों पर कुरआन और हदीस

की व्याख्या में एक-दूसरे से भिन्नता रखती हैं। व्याख्या की इन भिन्नताओं ने धार्मिक रीतियों और व्यवहारों में अंतर लाया है जिसकी वजह से बहुत भयंकर संघर्ष और सामाजिक उपद्रव हुए हैं। शिया, सुन्नी, अहमदिया, अहल-ए-हदीस–इन सबके पास संताप की अपनी कथाएं हैं। लेकिन इन मतों, हालांकि एक-दूसरे के खिलाफ धार्मिक कड़वाहट के उत्तराधिकार से प्राप्त तत्व इनमें से कुछ में हिंदुत्व की उपधाराओं से अधिक हैं, ने लगभग एक-दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रहना सीख लिया है और एक आम मुस्लिम भावना पैदा कर ली है।

अलग-अलग हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों पर जोर एक गलत दृष्टि

पहले राजाओं और सेनापतियों के संघर्ष के बावजूद अब तक कई शताब्दियों के दौर में इन दो भावनाओं के एक आम संस्कृति में मिश्रण विलय की तरफ खास प्रवृत्ति रही है। अगर यह बिना रुकावट हो गई होती तो चीजें उनसे भिन्न होतीं जैसी आज हैं; लेकिन स्वार्थी पक्षों ने अपना खेल इतने बढ़िया तरीके से खेला है कि हिंदुओं और मुसलमानों ने अपने आपको अलग इकाइयों के तौर पर सोचना तथा व्यक्तिगत और अलग प्रस्तुति एवं पालन की आवश्यकता के लिए अस्तित्वों के रूप में अपनी अलग भावनाओं पर जोर देना आरंभ कर दिया। यह पिछले पांच दशकों में तीव्र हुआ है। साथ-साथ, राष्ट्रवाद की बढ़ती लहर के साथ एक धूर्त प्रयास न सिर्फ विलयन की प्रक्रिया को रोकने बल्कि मित्रता के बहाने खाई को चौड़ा करने का किया गया है। अंग्रेज लेखकों और राजनीतिज्ञों ने एक तरफ तो हिंदू दर्शन और संस्कृति की प्रशंसा की तथा उस संस्कृति को अखंड और बढ़िया ढंग से संभालकर रखने की जरूरत पर जोर दिया है एवं दूसरी तरफ मुस्लिम संस्कृति को अलग अस्तित्व के रूप में संभाले रखने की जरूरत पर समान रूप से जोर दिया है। हिंदुओं और मुसलमानों के कुछ सर्वोत्तम बुद्धिजीवियों ने इसे ग्रहण कर लिया है। ऐसा नहीं कि वे हिंदू-मुस्लिम एकता की इच्छा नहीं रखते हैं। वे इस बारे में वाक्पटुता से और ईमानदार भावना के साथ बोलते और लिखते हैं लेकिन वे इसका आधार सहिष्णुता के बल और 'जीओ और जीने दो' के सिद्धांत को बनाते हैं। हमें लगता है कि यह संपूर्ण दृष्टि मूल रूप से गलत है और इसे बदला जाना चाहिए। अलग-अलग संस्कृतियों पर यह जोर अलग-अलग शैक्षणिक संस्थाओं को युक्तिपूर्ण बनाता है और इन संस्थाओं ने एक सांस्कृतिक दीवार बनाने तथा एक-दूसरे के साथ मिलने-जुलने में उनके सामाजिक जीवन की धाराओं को रोकने में क्रमशः मदद की है।

मिलन–हमारा लक्ष्य

इन तथाकथित 'पृथक' संस्कृतियों में मिलन के लिए, सभी अवरोधों को हटाने के

लिए जो एक दिशा में एकीभूत होने और बहने से इन धाराओं को रोकते हैं जिसे प्रकृति ने उनके लिए बनाया है, हमारी सभी सिफारिशों का अंतिम लक्ष्य होगा। और हम महसूस करते हैं कि, हालांकि कई लोगों को लक्ष्य बहुत दूर लग सकता है, एक यथोचित समय के अंदर इसकी प्राप्ति असंभव नहीं है। इस भावना पर टिके रहने का हमारा मुख्य कारण यह है कि चीजें जो उन्हें गूंथती हैं और उनके लिए आम हैं, उनसे मजबूत हैं जो उन्हें अलग करने वाली चीजें हैं। हिंदू और मुसलमान एक आम वृक्षस्तंभ से आते हैं। उन सबकी भाषा आम है। कविता, संगीत, पेंटिंग, शिल्पकला—इन सबका विकास आम प्रयासों से हुआ है और जितना ये मुसलमानों का है, उतना ही हिंदुओं का भी। आम जनसमूह, खास तौर से ग्रामीण क्षेत्रों में, अपने दैनिक जीवन और उत्सवों, शादी-ब्याह और मृत्यु जैसे रीति वाले अवसरों पर कई आम स्थानीय व्यवहारों तथा परंपराओं का पालन करते हैं। इस तरह के अवसरों पर बड़ी भिन्नताएं भी हैं और हम इनकी अनदेखी नहीं कर रहे तथा उन्हें कम भी नहीं आंक रहे। ये भिन्नताएं पिछले पांच दशकों के दौरान अलगाववाद की बढ़ती भावना के कारण और मजबूत हुई हैं। कुल मिलाकर हम इस बात पर जोर देते हैं कि आम बंधन शताब्दियों से विद्यमान हैं और अब भी बहुत मजबूत हैं तथा उन भिन्नताओं में से अधिकांश कुछ दिनों में पैदा हुई हैं या विद्यमान हैं, ऐसी हैं जो इस हद तक हटाए जाने योग्य या कम किए जाने योग्य हैं कि उन्हें बहुत सीमित सीमाओं में संकुचित किया जा सकता है और दो समुदायों के आम सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन पर यह प्रभाव नहीं डाल सकता। अगर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता और कार्यकर्ता जिनका इस आम संस्कृति और सामाजिक जीवन में यकीन है, और जो अपने ही अलग समुदायों के लिए काम की प्रेरणा का प्रतिरोध कर सकते हैं, आगे आते हैं और साहस, समर्पण तथा निःस्वार्थ भाव से अपने आपको संगठित करते हैं एवं प्रेरणा और उदाहरण—दोनों प्रस्तुत कर आम लोगों की भावना को छूते हैं, तो हमें सफलता का विश्वास है। हमारे बीच सर्वोत्तम लोगों का जीवन बहुमूल्य है।

सरकार को सुझाव

लेकिन निदान के उपायों पर विचार से पहले हम सोचते हैं कि सांप्रदायिक दंगे रोकने के लिए एक व्यावहारिक तथा प्रभावी कदम के बारे में हम संक्षिप्त तौर पर उल्लेख कर सकते हैं। अगर सरकार ईमानदारी से इच्छा रखती है कि ये सांप्रदायिक दंगे नहीं होने चाहिए तो उसे साफ तौर पर समझा देना चाहिए कि जहां भी सांप्रदायिक दंगा होता है, उस जिले के जिलाधिकारी और पुलिस अधीक्षक तुरंत निलंबित कर दिए जाएंगे और उन्हें तब ही स्पष्टीकरण देने की अनुमति होगी। अगर यह प्रक्रिया अपनाई जाती है, हमें यकीन है कि इस तरह के दंगों

की बहुत कम संभावना बची रहे। इस तरह की समस्या का षड्यंत्र करने वालों और उन्हें बढ़ाने वालों के बारे में मजिस्ट्रेटों और पुलिस अधिकारियों को जानना चाहिए तथा वे आमतौर पर उन्हें जानते भी हैं। उन्हें उनके खिलाफ सिर्फ प्रतिबंधक कार्रवाई करनी होती है। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं तो वे पद के लायक नहीं हैं।

निदान के वर्गीकरण

हमारे द्वारा दी गई सिफारिशों को हम तीन वर्गों में विभाजित करते हैं : (1) धार्मिक-शैक्षिक, (2) राजनीतिक-आर्थिक और (3) सामाजिक। हम इसे समझते हैं कि हमारे विचार वाले कुछ मौलिक उपाय बड़े पैमाने पर तत्काल व्यवहार में नहीं लाए जा सकते; कुछ का एक समुदाय विरोध करेगा तो कुछ का दूसरा समुदाय। लेकिन हमारा दायित्व हमें इस ओर संकेत देना आवश्यक है ताकि हमारे सभी प्रयासों के लक्ष्य के तौर पर इन्हें न सिर्फ ध्यान में रखा जाए बल्कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का उन्हें हिस्सा बनाने के लिए राजनीतिक कदम के तौर पर अंगीकार करने में उनकी शुरुआत की जाए। अब हम उन वर्गों को क्रमानुसार लेंगे।

हम धार्मिक-शैक्षिक उपायों से शुरुआत करते हैं।

1. धार्मिक-शैक्षिक

(1) हम समझते हैं कि यह विभिन्न धार्मिक गुटों के बीच बेहतर संबंध लाने में बहुत मददगार होगा, अगर सभी धर्मों के आम जरूरी सत्य पर जोर दिया जाए और अगर लोगों, खास तौर पर युवा पीढ़ी के दिमाग को इन आम सच्चाइयों की तरफ आकर्षित किया जाए। हमारी सलाह है कि कांग्रेस को वर्गों के मुताबिक पुस्तकों की शृंखला निकालने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेनी चाहिए जिनमें जहां तक संभव हो, निरपेक्ष और आकर्षक तरीके से इन आवश्यक सच्चाइयों को प्रस्तुत किया गया हो और कई धर्मों की धर्मपुस्तकों से अनुवाद के साथ समानांतर उद्धरणों को दिया गया हो। सभी शैक्षिक संस्थाओं के प्राइमरी और उच्चतर वर्गों के लिए निश्चित पाठ्यक्रम में इन किताबों को शामिल कराने की कोशिश की जानी चाहिए।

किताबों की इस तरह की शृंखला की जरूरत सभी छत्तीस हिंदू, मुस्लिम और ईसाई गवाहों (एक संदिग्ध अपवाद रहा है) ने भी बनाई है जिनसे इस बिंदु पर हमने पूछताछ की है।

हमारा यह भी सुझाव है कि समय-समय पर कांग्रेस को सभी समुदायों के धार्मिक नेताओं से अपने अनुयायियों को उपदेश देते समय सभी धर्मों की आम

आवश्यकताओं पर खास तौर पर जोर देने की अपील करनी चाहिए।

(2) पूरे सवाल को लेने के मद्देनजर देश के युवा वर्ग की शिक्षा वाले किसी विशिष्ट जाति की संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। यही वह जगह है जहां अलगाववाद के बीज बोये जाते हैं। यह आम जानकारी है कि उन हिंदू और मुसलमान विद्यार्थियों, जिन्होंने गैर विभाजक स्कूलों में साथ-साथ बैठकर और हिंदू तथा मुस्लिम शिक्षकों से शुरुआती शिक्षा प्राप्त की है, के पास हिंदू-मुस्लिम संबंधों को लेकर दृष्टि उन विद्यार्थियों से अधिक होती है जो विशिष्टता के वातावरण में बड़े हुए हैं जिसे किसी विशिष्ट जाति की संस्थाओं से अलग नहीं किया जा सकता।

इस मामले पर हमारी निश्चित सिफारिशें हैं :

(क) भविष्य में हिंदू, मुस्लिम, ईसाई या अन्य किसी समुदाय या इनकी किसी उपजाति के नाम वाला कोई नया स्कूल या कालेज नहीं खोला जाना चाहिए।

(ख) जहां भी संभव हो, वर्तमान विशिष्ट जाति वाली संस्थाओं के नाम इस तरह बदल दिए जाएं कि वे सांप्रदायिक न लगें, जहां कुछ देर अनिवार्य ही हो, परिवर्तन के लिए कदम यथाशीघ्र उठाए जाने चाहिए।

(ग) अन्य समुदायों के सदस्यों को इन संस्थाओं की शासकीय समितियों में क्रमशः लिया जाना चाहिए और प्रबंधन में उन्हें वास्तविक अधिकार दिए जाने चाहिए।

(घ) अध्ययनों और व्याख्यानों के पाठ्यक्रम इस तरह बनाए जाने चाहिए कि उनकी सांप्रदायिक नहीं, विस्तृत सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि हो।

(ड) अन्य समुदायों के विद्यार्थियों को साथ आने के लिए आमंत्रित तथा खास तौर पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। किसी खास समुदाय के विद्यार्थियों के लिए सभी वर्तमान वरीयताओं को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

(च) परिवर्तन की अवधि के दौरान उत्सव या अन्य महत्वपूर्ण अवसरों पर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय या इस्लामिया कालेज, लाहौर–जैसे मुस्लिम संस्थानों के विद्यार्थियों को बनारस हिंदू विश्वविद्यालय–जैसी हिंदू संस्थाओं द्वारा एक सप्ताह या दस दिनों की अवधि के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए और पहले वाले को दूसरे को भी आमंत्रित करना चाहिए। समय-समय पर होने वाली ये भेंटें विद्यार्थियों के लिए आनंद और लाभ के स्रोत होने चाहिए तथा अभ्यागतों को यह महसूस कराया जाना चाहिए कि वे मेजबान संस्थानों के प्रिय तथा विशिष्ट अतिथि हैं एवं उन्हें अपने सामाजिक जीवन में मुक्त होकर घुलने-मिलने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। अधिकांश राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थान भले ही वे किसी विशिष्ट

जाति के नहीं हों, वस्तुतः एक या दूसरे समुदाय के विद्यार्थियों के लिए सीमित हैं; उन्हें इन सीमाओं को हटाने के लिए आगे बढ़ना चाहिए।

(3) इतिहास पर नई किताबें इस तरीके से लिखी जानी चाहिए कि सत्य पर टिके रहते हुए वे सांप्रदायिक मानसिकता की सिर्फ रचना न करें बल्कि इस मातृभूमि में रहने वाले सभी समुदायों के आम नायकों के रूप में इतिहास और मिथक के नायकों को लेते हुए राष्ट्रीय समग्र दृष्टि के जन्म में सहायक हो सकें। अधिकांश स्तरीय किताबें हिंदुओं और मुसलमानों की एक-दूसरे के प्रति भावनाओं की कटुता बढ़ाने के उद्देश्य वाले विदेशियों द्वारा या उनके प्रभाव में लिखी गई हैं और स्कूलों तथा कालेजों में पढ़ाई जाने वाली पाठ्यपुस्तकें आमतौर पर इन प्रभावों में ही लिखी गई हैं। अगर मानवीय लेखन में गलती और पूर्वाग्रह न टाले जाने योग्य हैं तो उन्हें व्याधिमुक्त फोड़ों को खोलने वाली नहीं बल्कि "पुराने, दुखदायी, बहुत पहले हो गई चीजें और बहुत पहले हुई लड़ाइयों" को माफ करने तथा भूलने एवं प्रेम और भाईचारा बढ़ाने की दिशा में जाने देना चाहिए।

कविता और उपन्यास जैसी दूसरी चीजों में भी दोनों समुदायों के विद्वानों को नए जीवन से लबालब और आशा तथा एकता के नए संदेश धारण करने वाले साहित्य की रचना करनी चाहिए। कहानी लेखक इस दिशा में खास तौर पर मददगार हो सकते हैं। बनारस और अलीगढ़ विश्वविद्यालय जैसे बड़े शैक्षिक संस्थानों को इस काम में भाग लेना और अन्य विद्वानों तथा लेखकों को नेतृत्व देना चाहिए।

(4) ऊपर के सवाल से राष्ट्रभाषा का सवाल निकट से जुड़ा है। आम सहमति से अब हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा के तौर पर स्वीकार कर लिया गया है। यह एक ऐसी भाषा है जो देश की स्वदेशी भाषा के साथ फारसी और अरबी के संबंध से जन्मी है। इसके दो रूपों—उर्दू और हिंदी का विकास हिंदुओं तथा मुसलमानों—दोनों ने साथ-साथ काम करने एवं दोनों समुदायों के लिए लिखते हुए विकसित हुआ है। कबीर, खुसरो, रहीम खान खाना, रसखान, मलिक मुहम्मद, जायसी, अनीस हिंदी कविता के प्रमुख रचयिताओं में हैं। इसी तरह, दयाशंकर नसीम, चंदूलाल, रामचंदर, ज्वाला प्रसाद बर्क, रतननाथ सरशार, बिशन नारायण डार और बृजनारायण चकबस्त उर्दू साहित्य के बड़े नामों में हैं। हमें लगता है कि दोनों समुदायों के क्रमशः मिलने से एक आम स्रोत से उभरने वाली साहित्य की दो धाराओं को एक ऐसी भाषा के साहित्य—हिंदुस्तानी में मिल जाना चाहिए जो उर्दू और हिंदी के सर्वोत्तम तत्वों को मिला सकेगा तथा जिसे वे देशवासी भी बिना कठिनाई समझ सकेंगे जिनकी मातृभाषा हिंदुस्तानी नहीं है।

राष्ट्रवाद का उद्देश्य बहुत आगे बढ़ाया जा सकेगा, अगर कांग्रेस और इसकी

अंगीभूत इकाइयों की सभी कार्यवाहियों में हिंदुस्तानी भाषा के उपयोग पर अधिक जोर और जल्दी-से-जल्दी उपयोग पर बल देना संभव हो। यह संतोष की बात है कि सन् 1925 में हुए अपने राष्ट्रीय अधिवेशन में कांग्रेस ने अपनी भाषा के तौर पर हिंदुस्तानी को मान्यता देते हुए अपने संविधान में एक धारा जोड़ी। हम पुरजोर सिफारिश करते हैं कि संविधान के इस हिस्से पर पूरा जोर दिया जाना चाहिए। भाषा और लिपि के सवाल पर हमारी आगे की सिफारिशें हैं :

(क) नागरी और फारसी लिपियों में लिखी हिंदी तथा उर्दू दोनों भाषाओं को हिंदुस्तानी बोले जाने वाले क्षेत्रों में सभी विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से पढ़ाई जानी चाहिए।

(ख) हिंदुस्तानी बोले जाने वाले प्रांतों के सभी कांग्रेसजनों को हिंदी और उर्दू–दोनों को जानने की गंभीर कोशिश करनी चाहिए और अन्य प्रांतों, जहां की मातृभाषा हिंदुस्तानी नहीं है, के कांग्रेसजनों को नागरी या फारसी लिपि के माध्यम के जरिये हिंदुस्तानी सीखनी चाहिए।

(ग) अखिल भारतीय कांग्रेस समिति या उन प्रांतों की इसकी अंगीभूत इकाइयों, जहां दोनों लिपियां प्रचलित हैं, द्वारा जारी नोटिस और पत्रक दोनों लिपियों में होने चाहिए।

(घ) हिंदी और उर्दू लेखकों, वक्ताओं तथा समाचारपत्र संपादकों को आम वाक्य रचना का उपयोग कर और जहां तक संभव हो, कठिन अरबी, फारसी और संस्कृत शब्दों को त्यागकर आम हिंदुस्तानी भाषा के विकास में मदद करनी चाहिए।

(ङ) हमारे विचार में फारसी लिपि को कुछ साधारणीकृत और अधिक स्वर ध्वनि सूचक बनाया जाना चाहिए। हमें खुशी है कि उर्दू विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर पहले ही गया हुआ है।

(च) हम इसे बहुत वांछित समझते हैं कि कांग्रेस बड़ा साप्ताहिक अखबार निकालने का दायित्व ले। इस अखबार में मुख्यतः जीवन के उन सभी गंभीर सवालों पर जनता की राय को शिक्षित करने वाले लेख होने चाहिए जिनसे कांग्रेस को निबटना है। ये आलेख उस आम हिंदुस्तानी भाषा में हिंदुओं और मुसलमानों द्वारा लिखे जाने चाहिए जिसकी ऊपर हमने वकालत की है तथा हर आलेख नागरी एवं फारसी–दोनों लिपियों में मुद्रित किए जाने चाहिए। इस तरह (1) हिंदुस्तानी भाषा और इसकी दोनों लिपियों की जानकारी विस्तृत ढंग से पूरे भारत में फैल जाएगी और (2) दोनों समुदाय एक-दूसरे के विचारों और दृष्टियों को जान, समझ और मूल्यांकन कर पाएंगे तथा संतुष्ट हो पाएंगे क्योंकि आज ऐसा नहीं हो पाता है, चूंकि हर समुदाय ही अखबारों तथा अपनी अनुकूल लिपि में

अधिकांशतः अपने ही विचार पढ़ता है।

(5) कुछ हिंदू युवकों को समय-समय पर यथासंभव मौलिक अरबी स्रोतों के जरिये अपने पूरे अभिप्राय के साथ इस्लाम के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और कुछ मुस्लिम युवकों को इसी तरह हिंदुत्व का अध्ययन कराए जाने की जरूरत है। अध्ययन की अवधि के दौरान इस तरह के विद्यार्थियों को वृत्तियां दी जानी चाहिए।

सभी उच्चतर शिक्षा संस्थानों में धर्मों और संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन को आमतौर पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं को इन मामलों में अग्रणी भूमिका निभानी चाहिए।

(6) वक्ताओं, लेखकों और समाचारपत्र संपादकों को उन चीजों के बारे में बोलने, लिखने और प्रकाशित करने से बचना पवित्र दायित्व मानना चाहिए जो एक समुदाय को दूसरे के खिलाफ उत्तेजित करती हों।

किसी व्यक्ति द्वारा सांप्रदायिक भावना भड़काने के प्रयासों की उस व्यक्ति के समुदाय के नेताओं द्वारा निंदा की जानी चाहिए।

(7) पिछले 10 साल के दौरान चले शुद्धि और तबलीग अभियान इस देश में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कलह के मुख्य कारण रहे हैं इन्हें बंद किया जाना चाहिए। इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को बहुत ईमानदारी, शुद्ध तरीके और सच्चाई के तरीके से अपने धर्म को फैलाने से रोकने या किसी को अपना धर्म परिवर्तन करने के अधिकार से वंचित करने का नहीं है। हम साफ तौर पर सिफारिश करते हैं कि अपना धर्म परिवर्तन करने वालों को अपने नाम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। भारतीय-ईसाई समुदाय में हम आमतौर पर ऐसे लोगों, और उनमें उच्च स्तर के लोग भी हैं, को देखते हैं जिन्होंने अपने पुराने नाम धारण कर रखे हैं। यह सर्व-इस्लामीकरण की भावना के सांप्रदायिकता में संकरे होने से बचने और धार्मिक अभिशस्ति के निश्चय में कम-से-कम बाधा डाले बिना सामाजिक संबंधों को आसान बनाने में मदद पहुंचाता है। सच्चा धर्म हृदय का मामला है, न कि नाम या कपड़े का।

पैरा II (12) में उल्लिखित स्थानीय संयुक्त पंचायतों को देखना चाहिए कि धर्म परिवर्तन कराने में किसी गलत या बेईमान तरीकों का इस्तेमाल तो नहीं किया जा रहा है।

अठारह साल से कम के नाबालिगों का उनके माता-पिता और अभिभावकों के साथ के बिना धर्म परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए तथा अगर दूसरे धर्म के किसी व्यक्ति द्वारा 18 से कम के किसी नाबालिग को मजबूर किया जाना पाया जाता है तो उसे अपने धर्म के लोगों को तुरंत सौंप दिया जाना चाहिए।

राजनीतिक-आर्थिक

हम अब राजनीतिक-आर्थिक उपायों को लेते हैं।

(1) हमारा काम फंडामेंटल राइट्स कमेटी के श्रम ने हल्का कर दिया है। इसके साथ ही हम सोचते हैं कि कांग्रेस को भारतीय जनता के सामने व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों और दायित्वों का उल्लेख करते हुए, अपनी आर्थिक नीति बताते हुए और उन्नत तथा ईमानदार एवं सक्षम और अनुभवी कानून सभा हासिल करने के अपने तरीकों का संकेत करते हुए स्वराज की अधिक संपूर्ण योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाहिए। इस योजना को हिंदुओं और मुसलमानों को एक समान रूप से संतुष्ट करना चाहिए कि कांग्रेस सभी की नैतिक और भौतिक अच्छाई के लिए निरपेक्ष ढंग से प्रयत्नशील है और किसी एक समुदाय या वर्ग का दूसरे की कीमत पर, हिंदू या मुसलमान, भूपति या काश्तकार, पूंजीवादी या श्रमिक का पक्ष नहीं लेती है। ऐसे सभी समुदायों के गरीब वर्गों को आश्वस्त करते हुए अल्पसंख्यक समुदायों और वर्गों के भय को दूर करना चाहिए कि उनका कल्याण स्वराज सरकार की पहली प्राथमिकता होगी।

जब यह योजना तैयार हो जाए, इसके पक्ष में जोरदार अभियान चलाया जाना चाहिए।

(2) किसी कार्यसमिति के पदाधिकारी या सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए प्रस्तावित लोगों के लिए कुछ योग्यताएं तय करने के उद्देश्य से कांग्रेस संविधान में परिवर्तन किए जाने चाहिए। हमारा निम्नलिखित सुझाव है :

(क) उन्हें प्रांतीय या आनुषंगिक समितियों के लिए कम-से-कम 25 साल और अखिल भारतीय कमेटी के लिए 30 साल की उम्र का होना चाहिए।

(ख) उन्हें कम-से-कम पांच साल तक कांग्रेस का सदस्य होना चाहिए।

(ग) उन्हें किसी ऐसे सांप्रदायिक संगठन का सदस्य नहीं होना चाहिए जो हिंदू, मुसलमान या सिख समुदाय के राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए काम करता हो।

(घ) उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि अपने देश की वर्तमान स्थितियों के तहत अहिंसा का मार्ग एकमात्र है जिसका स्वराज की प्राप्ति के लिए अनुसरण किया जाना चाहिए और कि अपने राजनीतिक संघर्ष में हिंसा के सभी कार्य अपने उद्देश्य को क्षति पहुंचाते हैं।

(3) सांप्रदायिक नेताओं की नीति और तरीकों का खुलासा किया जाना चाहिए, खास तौर पर उनके समुदायों के नेताओं द्वारा। इसकी परिश्रमपूर्वक व्याख्या की जानी चाहिए कि किस तरह सांप्रदायिक संगठन सभी के हितों को चोट पहुंचाते हैं जबकि कांग्रेस इस देश के हर व्यक्ति के लाभ के लिए काम करती है, यह आवश्यक चीजों और सांसारिक सुविधाओं के इस तरह वितरण करने का प्रयास

कर रही है कि गरीबी हटाई जा सके और इस तरह जातियों तथा वर्गों के बीच, 'संपन्नों' और 'निर्धनों' के बीच परस्पर विनाशकारी संघर्षों के खतरे को टाला जा सके।

(4) हमारा दृढ़ विचार है कि धर्म के आधार पर अलग मतदाता समूहों की व्यवस्था समाप्त की जानी चाहिए और कांग्रेस को इसे जारी रखने पर किसी भी तरह सहमत नहीं होना चाहिए। हमने इस बिंदु पर जिन 26 मुसलमानों से पूछताछ की, उनमें से 19 ने अलग मतदाता समूहों की निंदा की और अधिकांश ने वर्तमान सांप्रदायिक कटुता से इसका संबंध बताया जबकि सात ने इस व्यवस्था का समर्थन किया। सिद्धांत रूप से, हम भी धार्मिक आधार पर सीटों के आरक्षण के विरुद्ध हैं लेकिन कुछ अल्पसंख्यक समुदायों के लोगों की बड़ी संख्या के बीच संदेह और भय के मद्देनजर हम सोचते हैं कि एक निश्चित अवधि के लिए अल्पसंख्यक समुदायों के लिए सीटों के आरक्षण की अनुमति दी जा सकती है। हमारा विश्वास है कि नए विश्वास और आशा से जन्मी बेहतर और अधिक राष्ट्रीय दृष्टि आरक्षण को लंबे समय तक अनावश्यक बना देगी।

(5) संप्रदाय विशेष के अधिकारों के निबटारे के लिए कांग्रेस को अलग सांप्रदायिक संगठनों से बातचीत करना छोड़ देना चाहिए। जब जरूरत हो, उसे पूरे देश का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन के तौर पर सरकार से बात करनी चाहिए।

(6) एक समुदाय की दूसरे समुदाय के आक्रमण से रक्षा के लिए संगठन और तंजीम जैसे हिंदुओं और मुसलमानों को अलग-अलग संगठित करने के सभी प्रयास रोक दिए जाने चाहिए।

(7) महावीर दल और अली गोल जैसे सभी सांप्रदायिक कार्यकर्ता संगठनों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए और हिंदुओं तथा मुसलमानों—दोनों को समाहित करते हुए संयुक्त कार्यकर्ता संगठन बनाए जाने चाहिए।

(8) हर कांग्रेस कार्यकर्ता को शपथ दिलाई जानी चाहिए कि उसके इलाके में हिंदू-मुस्लिम दंगा होने पर वह शांति लाने का हरसंभव प्रयास और हिंदुओं तथा मुसलमानों की निरपेक्ष मदद करेगा और अगर उस पर व्यक्तिगत तौर पर भी आक्रमण होता है तो वह प्रत्याक्रमण नहीं करेगा बल्कि एकता के उद्देश्य से प्रताड़ना सहेगा।

(9) एक समुदाय के किसी वर्ग का दूसरे समुदाय के लोगों के आर्थिक बहिष्कार का हर प्रयास कटुता और संघर्ष का दूरगामी स्रोत है तथा यह दोनों के सर्वोत्तम हितों को चोट पहुंचाता है। इसे कड़ाई से बंद किया जाना चाहिए।

(10) दो समुदायों के लोगों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाया जाना चाहिए। बैंकिंग, बीमा, व्यापार और उद्योग संयुक्त प्रयासों से संगठित किए जाने चाहिए।

(11) गरीबों, किसानों, श्रमिकों और बेरोजगारों के बीच कांग्रेस का प्रचार करने का विशेष प्रयास किया जाना चाहिए। कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रम उन्हें विशेष तौर पर बताए जाने चाहिए और उन्हें बताया जाना चाहिए कि हिंदू और मुसलमान, उच्च जातियां और निम्न जातियां—सभी विदेशी सत्ता और समाज के वर्तमान संगठन के प्रभुत्व के अंतर्गत समान रूप से पीड़ित हैं और कि उनकी आर्थिक स्थिति की बेहतरी समान लक्ष्यों के लिए उनके एकसाथ काम करने से ही संभव है।

(12) संयुक्त कार्यकर्ता संगठनों के तहत संयुक्त हिंदू-मुस्लिम पंचायतों का जितना अधिक संभव हो, गठन अंतरसांप्रदायिक एकता स्थापित करने और स्थानीय आवश्यकताओं और स्थानीय बोर्डों तथा अधिकारियों के कामों पर सतर्क निगाह रखने के लिए किया जाना चाहिए।

(13) सभी कांग्रेस सभाओं और प्रदर्शनों में "हाय, हाय!!" से समाप्त होने वाले नारों तथा हिंसक क्रांतियों के लिए "जय!" या "जिंदाबाद!!" के नारों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

(14) धरना जैसी हड़ताल पूरी तरह शांतिपूर्ण होनी चाहिए। किसी तरह की कोई बलपूर्वक अधीन करने की बात नहीं होनी चाहिए।

सामाजिक

हम अब तीसरे तरह के उपायों, सामाजिक, पर आते हैं।

(1) हर हिंदू और हर मुसलमान को दूसरे समुदाय के कम-से-कम एक मित्र के साथ पारिवारिक रिश्ते जैसा व्यवहार करने की कोशिश करनी चाहिए। इससे हर समुदाय को दूसरे के विचारों को बेहतर ढंग से समझने में मदद मिलेगी।

(2) हिंदुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के उत्सवों में अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिए। होली, दीवाली, ईद-उल-फितर और शब-बरात जैसे कुछ वर्तमान पर्वों को दोनों समुदायों को आम पर्वों की तरह मानना चाहिए और नए आम राष्ट्रीय पर्वों की शुरुआत करनी चाहिए।

(3) मनोरंजन और खेलों के लिए संयुक्त क्लबों तथा संयुक्त अध्ययन कक्षों एवं समाजों की स्थापना की जानी चाहिए।

(4) अपने देश के सभी निवासियों को अपने आप को हिंदी या हिंदुस्तानी कहना चाहिए और हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच भेद पैदा करने वाले वस्त्र और रूप में अंतर समाप्त किए जाने चाहिए या कम-से-कम न्यून किए जाने चाहिए। यह एकता की भावना और सहभागी होने में बहुत मददगार होगा।

(5) पर्दा की समाप्ति के लिए विशेष प्रयास किए जाने चाहिए लेकिन भारतीय समाज की सर्वोत्तम परंपराओं की मांग के अनुरूप अवरोधों के साथ। हिंदू और

मुस्लिम महिलाओं को एक-दूसरे से अधिक मिलना-जुलना चाहिए तथा महिलाओं को सार्वजनिक मामलों में अधिक भाग लेने के लिए आमतौर पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। हमें यकीन है, पर्दा की समाप्ति हिंदू-मुसलमान एकता के सबसे बड़े अवरोधों में से एक को दूर करेगी।[82]

(6) गंदगी और खास तरह के रोगों को छोड़कर अस्पृश्यता समाप्त की जानी चाहिए। कोई आदमी या किसी आदमी का भोजन या पानी इतना पवित्र नहीं होना चाहिए कि किसी खास जाति या धर्म से संबद्ध दूसरे व्यक्ति के छूने भर से दूषित हो जाए।

(7) कई बार शिकायत की जाती है कि नगरपालिका और अन्य स्थानीय संगठनों में जब भी एक समुदाय सत्ता में आता है, निर्वाचित कार्यालयों के वितरण, भुगतान सेवाओं, धन आवंटनों और ठेकों, एक खास समुदाय पर प्रभाव डालने वाले सामाजिक या धार्मिक कार्यों या व्यापारों और व्यवसायों के उपनियम बनाने, मांस की दुकानें खोलने और स्कूलों में भारतीय भाषाओं के शिक्षण आदि के मामलों में सांप्रदायिक पक्षपात दिखा जाता है।

इस तरह की प्रवृत्तियां, जहां भी और जिस स्तर तक भी हों, बहुत निंदनीय और राष्ट्र विरोधी हैं। उन्हें हर जगह निरुत्साहित और रोका जाना चाहिए। स्थानीय संयुक्त पंचायतें इस मामले में बहुत मददगार हो सकती हैं।

(8) धार्मिक बलि समेत किसी भी उद्देश्य के लिए चौपायों की सभी हत्याओं को स्वास्थ्य, सफाई और सार्वजनिक मर्यादा के आधारों पर देश के आम कानूनों के अंतर्गत किया जाना चाहिए।

गो-वध पर किसी को भी बीच में नहीं पड़ना चाहिए, जैसे बकरियों, भेड़ों, भैंसों के काटे जाने पर भी।

जहां भी इस तरह का कोई विरोध करता है, उसके खिलाफ सत्याग्रह करने का दायित्व कांग्रेसजनों का होना चाहिए।

आपसी सहमति के जरिये की गई किसी भी व्यवस्था या किसी रीति के

---

82. अगर मुस्लिम महिलाएं बाहर निकलें और हिंदू महिलाओं के साथ मुक्त होकर घुलें-मिलें तो विरोध और संघर्षों पर निश्चित रूप से नियंत्रण लगेगा, मिश्रित महिला सम्मेलन की बड़ी सफलता इसका निश्चित गवाह है; स्नान घाटों और खास तौर के हिंदू मेलों आदि में मुसलमानों की उपस्थिति पर हिंदुओं की आपत्ति का मुख्य कारण यह है कि हिंदू महिलाएं तो वहां जाती हैं जबकि मुस्लिम महिलाएं नहीं जातीं लेकिन सिर्फ मुस्लिम पुरुष वहां जाते हैं–इस कारण से हिंदुओं में क्षोभ होता है। अगर मुस्लिम महिलाएं भी जाएं तो क्षोभ के सभी कारण एकबारगी गायब हो जाएंगे; इसी तरह, दोनों वर्गों की महिलाओं की समानता का खतरा उठाया जाए तो दंगों की संख्या न्यून हो जाएगी।–भगवान दास

साथ कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

(9) मस्जिदों के पास किसी को संगीत नहीं बजाना चाहिए, मस्जिदों या मंदिरों के पास किसी तरह की आवाज नहीं निकाली जानी चाहिए।

जहां भी इस तरह का कोई विरोध करता है, उसके खिलाफ सत्याग्रह करने का दायित्व कांग्रेसजनों का होना चाहिए।

(10) हिंदुओं को वर्तमान वंशानुगत जाति व्यवस्था समाप्त करनी चाहिए जिसमें अनगिनत उपजातियां हैं और उन्हें चार मुख्य जातियों (वर्णों) की व्यवस्था को कठोर वंशगत से बदलकर व्यावसायिक प्रवृत्ति तथा वर्ग में कर देना चाहिए—(1) ज्ञानवान लोगों के लिए ज्ञान के पेशे; (2) कार्रवाई करने वाले लोगों के लिए कार्यशील पेशे; (3) धनाढ्य लोगों के लिए धन-उत्पादन और धन-प्रबंधन के पेशे और (4) जो लोग अन्य तीन की तरह बौद्धिक रूप से सक्षम और शिक्षित नहीं हैं और जो उन लोगों को छोटी क्षमता में सहायता भर दे सकते हैं, उनके लिए श्रम के पेशे।

जीवन के इन मुख्य पुरस्कारों या आमद—(1) सम्मान, (2) शक्ति, (3) धन और (4) मनोविनोद और जीवनयापन के मुख्य तरीकों—(1) सार्वजनिक और निजी पारिश्रमिक, (2) मालगुजारी या सार्वजनिक वेतन, (3) व्यापार और (4) इन चार वर्गों के बीच पर्याप्त पारिश्रमिक के इस तरह समान रूप से वितरण का काम स्वराज सरकार का होगा कि गरीबी और अमीरी के अतिवाद घटें, सभी की आवश्यकताएं पूरी हों, ईर्ष्याएं न्यून हों और अच्छे काम को प्रोत्साहन अधिक-से-अधिक हो।

इस वक्त आंतरिक रूप से विभाजित, आपस में विशिष्ट जाति व्यवस्था में आपसी मददगार व्यावसायिक मंडलियों, सभी की अंतनिर्भर 'सामाजिक संगठन' में इस तरह परिवर्तन से मुसलमानों और ईसाइयों और सभी मतों के लोगों को चाहे वे किसी भी मत के हों, किसी भी तरह अपना मत परिवर्तन किए बिना ही उन मंडलियों में शामिल होने का अवसर मिलेगा।

स्थायी कांग्रेस बोर्ड के लिए सुझाव

हमने उन सुधारों का संकेत किया है जिन्हें हम सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक शत्रुता के उन्मूलन में मददगार समझते हैं, जो हिंदुओं और मुसलमानों को अभी बांट रहे हैं। यह हमारा निश्चित मत है कि रोग सामाजिक व्यवस्था में गहरा हो गया है और उन्मूलन का तरीका निश्चित तौर पर धीमा और प्रगतिशील होना चाहिए। इसलिए हमारे अधिकांश सुधार के उपाय इस तरह के हैं जिन्हें एकबारगी पूरा का पूरा लागू नहीं किया जा सकता। उनके उपयोग में लगातार निगाह, सतर्कता और अव्यवसाय की जरूरत होगी। इसलिए हमारा

अंतिम सुझाव है कि कांग्रेस को ऐसे सदस्यों को शामिल करते हुए एक स्थायी बोर्ड बनाना चाहिए जो हिंदू-मुस्लिम एकता लाने में गहरी रुचि रखते हों और इसके लिए काम करने को तैयार हों। इस बोर्ड को इस खास लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अलग से काम करना चाहिए। राजनीतिक कार्यों से इसकी तुलनात्मक स्वतंत्रता से लोगों के उन वर्गों के बीच भी बेहतर ढंग से काम करने में मदद मिलेगी जो प्रत्यक्ष राजनीतिक आंदोलन से बाहर हैं और जिन्हें रोग ने सबसे अधिक गिरफ्त में ले रखा है।

कांग्रेस ने, निस्संदेह, इस सवाल पर समय-समय पर अपना ध्यान दिया है। लेकिन इसकी नीति अब तक समस्या के राजनीतिक पक्ष और खास स्थितियों पर, जब वे पैदा हुई हैं, मुख्यतः रही है। हम समझते हैं कि कांग्रेस को अब लोगों के सामाजिक जीवन को उसी तरह जोरदार और प्रभावी ढंग से रचनात्मक तरीके में प्रभावित करना शुरू करना चाहिए जिस तरह वह उनके राजनीतिक जीवन को प्रभावित कर रही है। लेकिन यह एक प्रयोग है जिसका हमें यत्नपूर्वक प्रयास करना होगा। यदि यह सफल हुआ तो इसका मतलब हिंदू-मुस्लिम समस्या का स्थायी समाधान होगा और अगर यह इस हद तक पूरी तरह प्राप्ति में विफल भी रहा तो यह समस्याओं के समाधान में कुछ दूर तक तो गया ही होगा।

इस तरह के बोर्ड को हमारे द्वारा सुझाए गए सुधार के उपायों पर काम करने का दायित्व सौंपा जा सकता है।

भगवान दास
(परिशिष्ट टिप्पणी की शर्त पर)
सुंदरलाल
पुरुषोत्तम दास टंडन
(अलग टिप्पणी की शर्त पर)
मंजर अली सोख्ता
अब्दुल लतीफ बिजनौरी
जफरुल-मुल्क
(अलग टिप्पणी की शर्त पर)

[illegible]

अध्यक्ष, कानपुर दंगा जांच समिति
द्वारा अखिल भारतीय कांग्रेस
समिति के अध्यक्ष को भेजा गया पत्र
और
सदस्यों की व्यक्तिगत टिप्पणियां

प्रेषक
डा. भगवान दास
अध्यक्ष
कानपुर दंगा जांच समिति

प्रेषित
सरदार वल्लभभाई पटेल
अध्यक्ष
अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी
दिल्ली

चुनार, उ.प्र.
अक्टूबर 26, 1931

प्रिय सरदार वल्लभभाई जी,

मुख्य रिपोर्ट को अग्रसारित करते हुए मेरे चौथे लगातार पत्र के क्रम में मुझे कहना है कि मैं इसके साथ तीन अलग-अलग टिप्पणियां भी दे रहा हूं जिन्हें रिपोर्ट के साथ ही पढ़ा जाए।

एक परिशिष्ट टिप्पणी पर 4 अक्टूबर, 1931 में मैंने और पं. सुंदरलाल जी ने हस्ताक्षर किए हैं, एक अन्य पर 23 अक्टूबर, 1931 में श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने और तीसरी, मतभेद की टिप्पणी पर 24 अक्टूबर, 1931 में मौलाना जफरुल-मुल्क ने। इस अंतिम को पं. सुंदरलाल जी ने अभी-अभी लाकर मुझे दिया है।

बहुत असंतोष के साथ प्रक्रियाओं के बारे में एक बिंदु पर मैं यहां स्पष्टीकरण के कुछ शब्द जोड़ता हूं जिसे मेरे सम्माननीय सहयोगी मौलाना जफरुल-मुल्क ने अपनी टिप्पणी में उठाया है।

वह कहते हैं कि कुछ हिस्से जिसे उन्होंने अपनी टिप्पणी में पुनः प्रस्तुत किया है, "एक बार विचार-विमर्श करने और पूरी समिति द्वारा पारित किए जाने के बाद हटा दिए गए" और जोड़ते हैं, "मैंने जब रिपोर्ट की अंतिम प्रति प्राप्त

की, मैंने इस अभूतपूर्व प्रक्रिया के खिलाफ विरोध किया और विवशता के साथ मुझे कहना पड़ता है कि मेरे अनुरोध के बावजूद न तो संतोषजनक कारण दिए गए और न हटाए गए अंश वापस किए गए।"

मैं 11 अक्टूबर, 1931 को लिखे पत्र का अंश नीचे उद्धृत करता हूं जो मैंने उनके विरोध पत्र के उत्तर में इलाहाबाद से उन्हें लिखा :

"...उपस्थित सदस्यों के बीच सतत् विचार के अंतर्गत पिछले कुछ सप्ताहों में रिपोर्ट लिखी गई थी। यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि उन विमर्शों में उपस्थित रहने से परिस्थितियों ने आपको रोका, अन्यथा सबको संतुष्ट करने वाले अपेक्षित सुधार कर लिए जाते और गहरी शोचनीय गलतफहमी नहीं उठती। मैं आपको बहुत यत्नपूर्वक विश्वास दिलाना चाहता हूं कि हम नहीं समझ पाए कि आपको यह महसूस हो रहा था कि सुधारों को छोड़कर रिपोर्ट का कोई अन्य अंश अंतिम और अपरिवर्तनीय होना निश्चित हो चुका है। ...सुधारों के भाग... पर आपकी उपस्थिति में पूरी तरह दो बार विचार-विमर्श हुआ। आपकी उपस्थिति में पहुंचे निष्कर्षों के बाद उस भाग में लखनऊ से लिखे आपके पत्र में आपके द्वारा ही सुझाए गए लोप छोड़कर बाद में एक शब्द भी नहीं बदला गया।"

वस्तुतः, अगस्त में मौलाना जफरुल-मुल्क के बनारस छोड़ने के बाद सुधारों को छोड़कर व्यावहारिक तौर पर पूरी रिपोर्ट का पुनर्निरीक्षण और पुनः क्रमबद्ध की गई (पाद टिप्पणियों में अपने भिन्न विचार और अंततः, मतभेद की टिप्पणी बताते हुए)। उन्होंने रिपोर्ट के शेष भाग पर अपनी कृपापूर्ण सहमति दी है लेकिन मेरे हिस्से की कुछ कमजोरी ही रही होगी जिसके लिए मैं गहरा क्षमाप्रार्थी हूं—सिर्फ उस खास अंश को लेकर उन्हें यह गलतफहमी रही जिसे उन्होंने अपनी टिप्पणी में प्रस्तुत किया है कि इस पर सभी सदस्यों में अंतिम तौर पर सहमति बन चुकी है। अगर मेरी याददाश्त ठीक है और मैं समझता हूं कि ठीक है क्योंकि पं. सुंदरलाल इसकी पुष्टि करते हैं, जब इस खास अंश पर विचार किया गया, एक सदस्य विचार में भाग ले रहे थे बल्कि वह एक अन्य कमरे में रिपोर्ट के दूसरे भाग पर काम कर रहे थे और भाग लेने वाले एक अन्य सदस्य ने उन हिस्सों को शामिल करने पर आपत्ति की।

इस विचार के अतिरिक्त कि ये अपने दायरे से बाहर गलत प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं और सितंबर माह में पूरी रिपोर्ट को दुहराने और तैयार करने के लिए बनारस में रहने वाले सदस्यों को अन्य किन चीजों ने अंततः प्रभावित किया, इस पर और अधिक स्पष्टीकरण दिए बिना इन्हें छोड़ देने के पीछे यह विचार था कि ये बातें बंद कमरे में कही गईं, कि गवाहों ने इसे समिति के विवेक पर छोड़ दिया कि यह गवाही उपयोग न की जाए या की जाए और किस तरीके से। इन स्थितियों में उन सदस्यों को लगा कि इस खास मामले में गवाही का

आम तरीके से उपयोग किया जा सकता है, अर्थात् इसके सार का वर्णन किया जा सकता है लेकिन खास उद्धरण न लिए जाएं। और सच्चाई यह है कि रिपोर्ट के एक पैराग्राफ में इन बयानों का सार शामिल किया गया है।

20 अक्टूबर, 1931 के मेरे पत्र में उन्हें यह बताते हुए कि उन्हें अपेक्षित कागजात अग्रसारित किए जा रहे हैं, मैंने यह सब मौलाना से स्पष्ट किया और खास उद्धरणों को टालने की उन्हें सलाह दी लेकिन जोड़ा कि अगर वह इस विचार से सहमत नहीं हो सकते तो मैं उनके रास्ते में नहीं आऊंगा। मैं समझ गया कि मेरे सम्माननीय सहयोगी इस विषय पर किसी तरह गहरे प्रभावित हो गए और मैं उनकी भावनाओं को ठेस पहुंचने का अनुमान नहीं कर सकता, खास तौर से इस सवाल से संबद्ध वह बात थी जिसे तकनीकी शुद्धता कहा जा सकता है। जैसा कि पहले कहा गया, गवाही का सार रिपोर्ट में पहले ही दिया गया है और प्रतिशत वस्तुतः कमोबेश उतना ही है और उसे बिल्कुल परम शुद्ध नहीं माना जा सकता। वे सिर्फ इतना बताते हैं कि कानपुर कांग्रेस कार्यकर्ताओं में से कई कभी कट्टरता से ऊपर उठने के उच्च स्तर तक पहुंचने और धर्म से पूरी तरह पृथक पूरी मानवता को प्रेम करने में सक्षम नहीं हो पाए थे जो स्थिति गणेश शंकर विद्यार्थी ने हासिल की थी और उच्चतम आत्म त्याग के जरिये जिसे उन्होंने प्रस्तुत किया था जिसके बारे में वेद कहते हैं कि "उस आदमी से अधिक बड़ा प्रेम क्या होगा जो अपने बंधुओं के लिए अपना जीवन दे देता है।"

आपका विश्वासी
भगवान दास

पूरक टिप्पणियां

"पश्चिमी संस्कृति" और पश्चिमी प्रभुत्व के साथ कुछ अच्छी चीजों के साथ भारत में आ गए कई झूठे और खतरनाक, ध्यान आकर्षित करने वाले शब्द (कैच-वर्ड) आदर्श और जीवन पद्धतियां, इनमें से सबसे अधिक सक्रिय उपद्रवकारी हैं—"राष्ट्रवाद", "बहुसंख्यक *बनाम* अल्पसंख्यक", "सांप्रदायिक राष्ट्रवाद" और "आथिक राष्ट्रवाद"। इस "शौकीन व्यसन पुरुष की प्रगति" का "आशीर्वाद", जिसे "पश्चिमी संस्कृति" कहा जाता है, हमें दरिद्रीकरण और आचारभ्रष्टीकरण के रूप में काफी महंगा पड़ा है। "यह किसी आदमी के लिए कितना लाभकारी है, अगर वह पूरी दुनिया पा लेता है लेकिन अपनी आत्मा खो देता है?" हम दोनों खो रहे हैं। हमने आत्मीय जीवन के अपने लगभग सभी यथोचित तरीकों को खो दिया है और अपनी आत्मा, अपना स्वत्व, अपनी अंतःनिर्भरता, अपनी एकता, अपनी हिंदू-मुस्लिम अंतर्निर्भरता और मित्रता लगभग खो दी है। इसकी जगह हमने अपरिचित पर पूरी निर्भरता, इतनी कि अपनी मातृभूमि स्पष्ट रूप से "अधीन देश" कही जाती है—और वह परस्पर विनाशकारी ईर्ष्या और घृणा प्राप्त की है जो "सांप्रदायिकता" का निर्माण करती है।

रिपोर्ट के विवरण में पुरोहिती छल और राजनीति के लालन-पालन में इस सांप्रदायिक राष्ट्रवाद के विकास और सांप्रदायिक दंगों में इसके प्रकटीकरण का विस्तार से वर्णन किया गया है। कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध न भी हो तो अपनी भयानक पीड़ा में मदद के लिए दौड़कर जाने वाले भय से त्रस्त लोगों को महात्मा गांधी और कांग्रेस को पुलिस और उच्चाधिकारियों द्वारा खुलकर कहे जाने वाली तिस्कारपूर्ण टिप्पणियां, उनके द्वारा दंगों में ली जाने वाली रुचियां खुद-ब-खुद बताती हैं। ये तिरस्कारपूर्ण टिप्पणियां लालची, अहमपूर्ण और कपटी इच्छाओं के अंधकार के पर्याप्त संकेत हैं जो उस जीवनधारी प्राणी, जो संपूर्णतः अनुत्तरदायी निरंकुश सरकार की संपूर्ण दुष्ट व्यवस्था को प्रकट करता है जिसके ये अधिकारी कोशिका और ऊतक तथा अंग हैं और जो उन्हें जनसेवक की जगह जनस्वामी होने का बोध कराते हैं और उन लोगों के प्रति ऋणी होने के उनके पवित्र कर्तव्य के उनके भाव को मार डालती हैं जिनका वे नमक खाते हैं और जरूरत होने

पर जिनकी मदद और सुरक्षा की सेवा उनका दायित्व है।

"बांटो और राज करो" की शासन नीति की उस व्यवस्था का नवीनतम साधन—अलग मतदाता समूह—"बहुसंख्यक *बनाम* अल्पसंख्यक" के विचार के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इस विचार—कि बहुसंख्यक अल्पसंख्यक पर सब दिन अत्याचार करता है—ने हिंदू से मुसलमान को अलग करने के लिए स्वार्थी तत्वों द्वारा अल्पसंख्यकों को शोषित कराया है। पूरी बारह शताब्दियों में भारत की हिंदू आबादी 100 प्रतिशत से घटकर 65 प्रतिशत हो गई है और मुसलमान का *शून्य* से बढ़कर 25 प्रतिशत जबकि अन्य धर्मावलंबियों—ईसाई, पारसी आदि का शेष 10 प्रतिशत हो गया है। एक तरफ यह तथ्य हिसाबी प्रमाण है कि इस्लाम तलवार के जरिये बहुत, बहुत कम बल्कि शांति के समय शिष्ट राजनीतिक और सरकारी प्रभाव में अधिक फैला और बेहद इसलिए क्योंकि हिंदुओं का आंतरिक धार्मिक कुल-मर्यादा का त्याग और उनकी अपनी अतार्तिक कठोर वंशगत जाति-व्यवस्था तथा छुआछूत की क्रूरता थी जिससे इस्लाम का साधारण धर्म और अधिक अबाध मित्रता आसान मुक्ति का रास्ता उपलब्ध कराता है; कि हिंदुत्व की सिकुड़न इसमें सिद्धांतों के उस ठोस और स्वस्थ अंतःभाग के लगातार विद्यमान रहने के कारण अधिक नहीं हुई जो हानिकर व्यवहारों को जंग लगी परत को किसी भी दिन उतार फेंकने और उन नई शाखाओं को लगने देने में सक्षम लगता है जो साथी धर्मों को खुशी से गूंथता है। दूसरी तरफ, अगर संभव हो तो यह अधिक ठोस प्रमाण है कि हिंदू "बहुसंख्यकों" ने मुस्लिम या ईसाई या पारसी "अल्पसंख्यकों" पर अत्याचार की बात कभी नहीं सोची है बल्कि इसके विपरीत अपनी कीमत पर उन्हें फलने-फूलने देने और बढ़ने की अनुमति दी है—इस बारे में कुछ नहीं कहना कि "हिंदू बहुसंख्यक" एक मिथ है क्योंकि तथाकथित बहुसंख्यक अलग छोटे (इनमें से कुछ बहुत ही छोटे) अल्पसंख्यकों की बेमेल भीड़ है। इससे अधिक, हम साफ तौर पर देखते हैं कि आज हर देश में, इस "लोकतंत्र के युग" में भी, यह ठोस अल्पसंख्यक हैं जो ढीले-ढाले तथाकथित बहुसंख्यक पर सफलतापूर्वक शासन करते हैं; और बहुसंख्यक अल्पसंख्यक पर नहीं। इससे अधिक देदीप्यमान उदाहरण क्या होगा कि भारत में सर्वशक्तिमान नौकरशाही अति सूक्ष्म अल्पसंख्यक है। फिर भी पश्चिमी ध्यान आकर्षित करने वाले शब्द की माया हिंदुओं और मुसलमानों को इन गणितीय और प्रत्यक्ष प्रमाणों को देखने से ही और उस तरह के सदृश राष्ट्र के तौर पर एकताबद्ध होने से रोकते हैं जैसा जापानी शिंटों, बौद्धों और ईसाइयों ने किया है तथा अपनी संख्या बढ़ाने और ज्यादा वोट एवं सीट बढ़ाने के लिए गलत तरीकों से कृत्रिम तबलीग और शुद्धि को प्रेरणा देते हैं—दोनों ही राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए घातक हैं तथा शुद्धि "जाति व्यवस्था" की "वंशानुगतता" के कारण विफल भी है।

बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के ध्यान आकर्षित करने वाले पदों की मोहनिद्रा शक्ति हमें यह देखने से रोकती है कि आपसी अविश्वास एक मनोवैज्ञानिक तथा नीतिशास्त्र संबंधी रोग है और इस तरह के रोग का उपचार भी मनोवैज्ञानिक तथा नीतिशास्त्र संबंधी ही होना चाहिए। यह चुनावी उपाय के रूप में यांत्रिक या भिन्न तरह के सर्वथा कृत्रिम कट्टर लेबल लगाए लोगों की संख्या निर्धारित करने के रूप में गणितीय जैसा नहीं हो सकता। अच्छे और बुद्धिपूर्ण कानून सिर्फ अच्छे और बुद्धिमान कानून निर्माताओं द्वारा बनाए जा सकते हैं, न कि इस तरह के धर्म आधारित नाम धारण करने वालों द्वारा। सच्चे और निरपेक्ष साथ-साथ अनुभवी, आचार नियम वाले और बौद्धिक रूप से उचित और इसलिए सबको विश्वास दिलाने वाले कानून निर्माता कैसे प्राप्त हों—यह समस्याओं की समस्या पर हमारा पहला और प्रधान ध्यान होना चाहिए, न कि यह सांप्रदायिक नाम वाले कितने कानून निर्माता कैसे होते हैं। अगर हम इस समस्या का संतोषजनक समाधान प्राप्त कर सकते हैं तो सांप्रदायिक समस्या अपने आप विलुप्त हो जाएगी। अगर नहीं, तो जिस तरह बाहर देखते हैं, उसी तरह हम कानून सभाओं में भी छोटे स्तर पर सांप्रदायिक कलह और जब-तब संभवतः हिंसा होते देखेंगे।

इसलिए सांप्रदायिकता के इस मन-संबंधी रोग के लिए हमने जो उपचार सुझाए हैं, वे उस तरह के अस्थायी शमन करने वाले नहीं जिनका पहले एकता सम्मेलनों या जांच समितियों द्वारा विफलतापूर्ण प्रयोग किया जा चुका है बल्कि विस्तृत रूप से संवैधानिक विकल्पों की प्रकृति के रूप में हैं। पुराने अल्सरों को जल्दबाजी में जोड़-तोड़ के जरिये ऊपरी तौर पर झिल्ली से ढंक देने के प्रयास बहुत निरर्थक हैं, वस्तुतः बेकार से भी बदतर हैं। वे रोग को बढ़ाते ही हैं। अगर हम रोग की जड़ से उपचार के सचमुच इच्छुक हैं तो गहरी परीक्षा और जड़ से उपचार अतिआवश्यक है। जैसा कि आयुर्वेद का कहना है : करानाम चिकित्स्याम, ना कार्यम्: "लक्षण नहीं बल्कि रोग की जड़ों की चिकित्सा की जानी चाहिए।"

हमने जो सुझाव दिए हैं, उनमें तीन मौलिक हैं—(1) खास गैर जरूरी, जो काल, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार बदलते हैं, से अलग सभी धर्मों के आम तथा स्थायी आवश्यक तत्वों का देशव्यापी प्रकाशन (प्रेस, प्लेटफार्म, और शैक्षिक संस्था, खास तौर पर अंतिम, के जरिये), (2) भारत में हिंदुत्व और इस्लाम के रिश्तों के सच्चे इतिहास के ज्ञान का सम्मिलन, और (3) हिंदुओं की वर्तमान वंशगत जाति व्यवस्था का प्रवृत्ति और पात्रता से संबंधित चार मुख्य व्यावसायिक वर्गों के औचित्यपूर्ण मनोवैज्ञानिक-वैज्ञानिक- सामाजिक संगठन से बदलाव जो सामाजिक संगठन धर्मों में परिवर्तन की किसी जरूरत के बिना सभी लोगों को समाहित करने में सक्षम होगा।

पहले के जरिये हम देश भर में यह संदेश फैलाएंगे कि स्व-निर्भरता हमारी उच्चतर स्थिति, हमारी बेहतर प्रकृति है जो हमें धर्म-राज्य के साथ-साथ नौकरशाही, पुरोहिती छल के साथ-साथ राजनीति, विक्षिप्त आध्यात्मिक शक्ति के साथ-साथ सांसारिक शक्ति से सफलतापूर्वक और स्थायी रूप से एकमात्र तरीके से उबार सकता है क्योंकि यह प्राणी को बेहतर बनाने और उनकी प्राकृतिक कमजोरियों का निदान करने की जगह उन कमजोरियों को जान-बूझकर बढ़ाकर, मित्रता और गरीबी के बीच कलह के बीज बोकर, उन्हें नीचा दिखाकर और उनका स्तर गिराकर, उनके शरीर में मादक पदार्थ और दूषित भोजन और उनके दिमाग में धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अंधविश्वास, भय और घृणा भरकर पिशाच का काम कर रहा है। इसके जरिये हम चरित्र का आम स्तर बढ़ाएंगे और अधिक-से-अधिक अच्छे तथा बुद्धिमान लोग बढ़ाएंगे जिनके जरिये हम सभी मामलों में वह शुद्ध शिक्षा और शुद्ध कानून हासिल करेंगे जो सच्ची संस्कृति का एकमात्र आधार है—एक संस्कृति जिसमें अंदर से आई न्यायपरायण प्रेरणा अधिक-से-अधिक अनावश्यक को कानून अनिवार्यता के साथ सलाम कर देगी।

इस तरह मानवीयता क्रमशः उस आध्यात्मिक श्रेष्ठता तक पहुंचेगी जहां यह सभी जीवन में एक सर्वोच्च शक्ति की उपस्थिति महसूस करेगी, वैश्विक भाईचारे को समझेगी और उस समय के व्यावहारिक कार्यरूप में धर्म के बाहरी रूपों को मदद की जगह अवरोध मानेगी तथा महसूस करेगी कि

"ना वर्ण ना वर्णाश्रम-आचार-धर्माः।" (शंकर)

"ना तरसा ना यहूदी-आम ना गबरम ना मुसलमान-आम।" (शम्स तबरेज)

जब तक मानव को यह शिक्षा नहीं दी जाएगी कि सभी धर्मों में एक ही दिल धड़कता है, तब तक मानव खुद एक दिल वाले बनेंगे। उन्हें यह शिक्षा देकर कि उनके धर्म एक-दूसरे से संघर्ष करते हैं और फिर उनसे कहना या यह आशा करना कि उन्हें खुद एक-दूसरे से संघर्ष नहीं करना चाहिए, वस्तुतः बुद्धिहीनता है। आधुनिक सभ्यता की बुराइयों के बीच एक बड़ी अच्छाई है कि विज्ञान के फैलाव, सवाल पूछने की शक्ति के फैलाव, आम बुद्धि के विस्तार ने इस सत्य के प्रभावपूर्ण प्रसारण को संभव बना दिया है कि सभी धर्मों का आधार समान है। कार्यकर्ताओं की सिर्फ एक दृढ़ मंडली की जरूरत है जो इसे प्रमाणित कर देगी।

दूसरे, अर्थात हिंदू और मुस्लिम संबंधों के वास्तविक इतिहास की विस्तृत शिक्षा के जरिये हम उस विषैले मत से देश के वातावरण को मुक्त करेंगे कि इस्लाम तलवार के बल पर फैला है। यह विचार अब न सिर्फ हिंदू मानते हैं बल्कि मुसलमान भी इसे मानने लगे हैं। यह दुहरा दुष्टतापूर्ण विचार है। यह मुसलमानों में धार्मिक-सैन्य पराक्रम और गौरव को उत्तेजित करने वाले मिथ्या विचार और हिंदुओं में "प्रतिशोध" और बदले की भावना को जन्म देता है। इसे

किसी भी कीमत पर नष्ट किया जाना चाहिए। पश्चिम में बुद्धिमान लोगों ने देखना शुरू कर दिया है कि युद्ध सामग्रियों को समाप्त या कम-से-कम किए जा सकने से पहले युद्ध मानसिकता को खत्म करना या उल्लेखनीय रूप से कम किया जाना जरूरी है; और इसे प्राप्त करने के लिए पहला और सबसे आवश्यक कदम इतिहास की स्कूल और कालेज पाठ्यपुस्तकों से अपने लिए सभी राष्ट्रवादी तथा सांप्रदायिक आत्मश्लाघा और शेखी एवं दूसरों के लिए अवमानना और कलंक को समाप्त किया जाना है।[83]

ऐसा किया जाना तब ही संभव है जब भारत में घर चुकी वर्तमान उन सभी संस्कृतियों के सर्वोत्तम का मिश्रण कर दिया जाए जो दुर्भाग्यवश एक-दूसरे से संघर्ष कर रहे हैं जिनके बारे में महात्मा गांधी ने एक ऐसी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के निर्माण की बात लिखी है जो "न हिंदू हो, न मुस्लिम हो न कोई पूरी तरह" बल्कि "सभी और प्रमुखतः पूर्वी का मिश्रण हो।"[84] चीजों की यह स्थिति तब ही बननी संभव होगी। जिसके बारे में उन्होंने आगे लिखा है, "धर्म में हम भले ही अलग हों, देश के तौर पर हमें एक और अविभाज्य होना चाहिए। हम अपने कानून निर्माता चुनेंगे और सेवकों की नियुक्ति, उनके धर्म या जाति की अपेक्षा किए बिना, उनकी प्रतिभाओं के आधार पर करेंगे।[85]

---

83. लंदन में आर.टी. कांफ्रेंस के समग्र अधिवेशन में अपने अंतिम भाषण के क्रम में महात्मा गांधी ने कहा, "जब कोई ब्रिटिश शासन नहीं था, क्या तब भी हिंदू, मुसलमान और सिख एक-दूसरे से हर समय लड़ते-भिड़ते रहते थे?...हमारे पास हिंदू इतिहासकारों और मुस्लिम इतिहासकारों के ऐसे गद्य और पद्य हैं कि हम उस वक्त अपेक्षाकृत शांति से रहते थे।... स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली कभी-कभी मुझसे कहा करते थे, 'अगर अल्लाह मुझे जीवन दे तो मैं भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास लिखने की इच्छा रखता हूं; और तब मैं उन दस्तावेजों के जरिये दिखाऊंगा जो ब्रिटेन के लोगों ने रखे हुए हैं...कि मुगल शासन उतना खराब नहीं था जितना ब्रिटिश इतिहास ने हमें दिखाया हुआ है।'...और यही हिंदू इतिहासकारों ने लिखा है। यह झगड़ा पुराना नहीं है; यह झगड़ा इस शर्मनाक हद तक समकालीन है। मैं कहना चाहता हूं, यह ब्रिटिश आगमन और इसके तत्काल बाद के साथ जुड़ा है...ब्रिटेन और भारत के बीच अस्वाभाविक रिश्ता स्वाभाविक रिश्ता...ऐच्छिक संबंध में बदला गया है,...आप पाएंगे कि हिंदू, मुसलमान, सिख, यूरोपीय, ब्रिटिश-भारतीय, ईसाई, अछूत—सभी एक व्यक्ति के तौर पर एक साथ रहेंगे। मौलाना मुहम्मद अली शोकपूर्ण अस्वाभाविक निधन के कारण जो नहीं कर सके, इस रिपोर्ट का पहला हिस्सा, ऐतिहासिक सिंहावलोकन उसे, छोटे तरीके से ही सही, करने का प्रयत्न करता है।
84. "यंग इंडिया", 30 जुलाई, 1931
85. वही, 16 जुलाई, 1931

तीसरे उपचार का उपयोग कर (जो निश्चित तौर पर प्रमुखतः हिंदुओं का दायित्व है), वैज्ञानिक ढंग से और क्रमबद्ध रूप से हिंदू और मुस्लिम के साथ-साथ उनके सर्वोत्तम तत्वों के मामलों में अन्य संस्कृतियों का मिश्रण वास्तविक, व्यावहारिक और संपूर्ण रूप से हो जाएगा—धर्म में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की हानि के बिना और संयोगवश कई कठिन शैक्षिक, घरेलू, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान की सामूहिक प्राप्ति के साथ।

यह विचार फैला हुआ है कि सांप्रदायिक संघर्ष वस्तुतः धार्मिक नहीं, बल्कि राजनीतिक-आर्थिक है। ऐसा होता तो संघर्ष यूरोपीय देशों की तरह एक तरफ "संपन्न" और दूसरी तरफ "गरीबों" या धनी और शक्तिशाली हिंदू और मुसलमान एक तरफ और गरीब तथा कमजोर हिंदू और मुसलमान दूसरी तरफ के बीच संघर्ष होता। वस्तुतः यह कारण नहीं है। इसलिए हमें बहुत सतर्कता के साथ समस्या के धार्मिक पक्ष से निबटना ही होगा। निश्चित तौर पर, राजनीतिक-आर्थिक पक्ष को नकारा नहीं जाना चाहिए। यह समान रूप से महत्वपूर्ण है। साम्राज्यवाद और धनपरायणता सांप्रदायिकता से कहीं अधिक मारक है। सभी इतिहास इसकी पुष्टि करते हैं। हाल का बड़ा युद्ध इस तथ्य पर भयंकर रूप से जोर देता है। पूरा संसार इसके प्रभावों से चक्कर खा रहा है और भयानक पीड़ा भुगत रहा है। और शासन ने कभी-कभी पुजारी के रूप में दबे पांव प्रवेश किया है; हालांकि इसके विपरीत भी सत्य है। भौतिक-राजनीतिक-आर्थिक पक्ष इस कारण ही बहुत गहरे ढंग से महत्वपूर्ण है। लेकिन यह धार्मिक (चूंकि धर्म शब्द बुरे दिनों में पड़ गया है और ऐसा बन गया है जिसका कई लोग विरोध करते हैं) या कहें, आध्यात्मिक पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि साम्राज्यवाद, सैन्यवाद, पूंजीवाद और इसमें समाहित सभी वासना, घृणा, लालसा, अभिमान, ईर्ष्या और आपसी भय जिनका सम्मिश्रित पागलपन युद्ध और अत्याचार का कारण बनता है, का बीज शब्द के गहरे अर्थ में अधार्मिकता अर्थात् स्वार्थीपन, मनुष्य के हृदय के निम्नतम स्तर का शासन है। राजनीतिक-आर्थिक समस्या का प्रभावी ढंग से तब ही समाधान हो सकता है जब हमारे पास निष्पक्ष और लोक हितैषी लोग हों, अर्थात् ऐसे लोग जिनके हृदय में सच्चा *स्व* हो—स्वार्थी, चतुर, बकवास-बहस करने वाले और अवसरवादी योजनाकारों के स्थान पर विभिन्न देशों की अलग-अलग कानून सभाओं और सभी देशों के एक उचित और योग्य शासन से भी बेहतर जानकारी रखने वाले हों। सिर्फ इस तरह के कानून निर्माता और जनप्रतिनिधि एक ऐसे सामाजिक संगठन की रचना में सक्षम होंगे जो मनो-शारीरिक स्थिति को और उनके सहायक रूप से सभी लोगों के सभी वर्गों की आर्थिक आवश्यकताओं को संतुलित और संतुष्ट कर पाएंगे और सभी देशों को वास्तविक *स्व-राज* देंगे। हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि राजनीति की जड़ें आर्थिक

व्यवस्था में और आर्थिक व्यवस्था की मनो-शारीरिक तथा व्यक्तिगत चरित्र और जीवन आदर्शों में है।

यहां यह समझना स्थान से बाहर नहीं होगा कि भले ही राजनीति अधिक तात्कालिक और अधिक शक्तिशाली लगती हो, इस देश की वर्तमान बदहाल स्थिति का गहरा और अधिक मूलभूत कारण पुरोहिती छल है। यह पुरोहिती छल ही है जिसने भारत में राजनीति के अभियानों के लिए अवसर और सामग्री उपलब्ध कराई है। हमारे अपने धार्मिक एवं धार्मिक-राजनीतिक नेता—हिंदू और मुसलमान, दोनों विदेशियों से अधिक दोषी कहे जाने चाहिए। जैसी कि एक अंग्रेजी कहावत है, "अगर कोई मूर्ख सुस्वादु भोजन उपलब्ध कराए तो चतुर लोगों को उसे क्यों नहीं खाना चाहिए?" अगर भारतीय अपने ही बीच लड़ेंगे तो विदेशी उससे फायदा क्यों नहीं उठाएंगे? और ये हमारे पुरोहित और हमारे सांप्रदायिक दिशानिर्देश हैं जो सांप्रदायिक विरोध के लिए प्राथमिक तौर पर उत्तरदायी हैं जिससे एक स्वार्थी धार्मिक शक्ति इन विरोधों के पोषण और उत्साह में रुचि ले सकती है।

इन आर्थिक आवश्यकताओं के साथ संबंध में "आर्थिक राष्ट्रवाद" के प्रलोभन का विचार यहां बताने की विशेष जरूरत उठती है। हर बड़े दंगे के बाद हिंदुओं और मुसलमानों का एक-दूसरे के आर्थिक बहिष्कार के समयबद्ध और निरर्थक, हालांकि घातक, प्रयास पर रिपोर्ट में कहा गया है और एक बयान से उद्धरण दिया गया है जिसमें इस विचार का संदर्भ दिया गया है कि हिंदू मुसलमानों को आर्थिक तौर पर क्षति पहुंचाने की कोशिश कर रहे हैं। यह निश्चिततः दोनों पक्षों में आम धारणा है कि जो अधिकारी होता है, वह दूसरे समुदाय की तुलना में अपने समुदाय के प्रति पक्षपात दिखाता है। लेकिन एक अन्य मत है कि मुस्लिम समुदाय में आम आर्थिक और शैक्षिक पिछड़ेपन के लिए हिंदू उत्तरदायी हैं।[86] और इसका फैलाव भारत के कम समझदार ईर्ष्यालु लोग यत्नपूर्वक कर रहे हैं। यह साफ है कि इस विचार में कुछ सच्चाई हो या नहीं, अगर इसे बने रहने और फैलने देने की अनुमति दी गई तो यह दोनों के बीच ईर्ष्या-भाव को निश्चित तौर पर उत्तेजित करेगा। इसलिए कांग्रेस के लिए इसे हर प्रकार से और इसके कारणों को समाप्त करना आवश्यक है।

I. इसलिए हम सलाह देते हैं कि "II. राजनीतिक-आर्थिक" उपचारों में इसे भी शामिल किया जाएः

"1 (अ) मुस्लिम समुदाय में चल रहे इस विचार के संदर्भ में कि वह समुदाय आमतौर पर हिंदू समुदाय की तुलना में गरीब और कम शिक्षित है तथा

86. इसके कुछ पक्ष पर मौलाना आजाद सुभानी और श्री भगवान दास द्वारा संयुक्त रूप से तैयार और सन् 1923 में प्रकाशित "हाउ टु ब्रिंग अबाउट हिंदू-मुस्लिम यूनिटी" पैंफ्लेट में विचार किया गया है।

ऐसा हिंदू समुदाय की कपट की वजह से है, यह अपेक्षित है कि कांग्रेस को इस सवाल पर गहनता से जांच करने और ठीक-ठीक पता लगाने के लिए कांग्रेस मुस्लिमों की विशेष समिति की नियुक्ति करनी चाहिए–

"(क) यह सत्य है या नहीं कि वर्ग-दर-वर्ग और पेशा-दर-पेशा मुसलमान हिंदुओं से अधिक गरीब और कम शिक्षित हैं;

"(ख) अगर वे हैं तो इसकी वजह उत्तराधिकार के विशेष कानून, जीवन के तरीके, हिंदू कुल-मर्यादा त्याग से जुड़ी कमजोरियों में बढ़ोतरी, कई दशकों से नई शिक्षा से अलग रहने, विदेशी सरकार से विशेष व्यवहार की आशा के कारण उद्योग के विस्तार आदि जैसे अंदरूनी या हिंदुओं की तरफ से अनुचित काम या व्यापार और उद्योगों में विदेशी प्रतियोगियों के साथ विदेशी सरकार का जुड़ाव और बाहरी या दोनों कारण हैं; और

"(ग) अगर ऐसा है तो उपाय क्या हैं?"

II. "III. सामाजिक" के अंतर्गत सलाह सं. 8 (संदर्भः गो-वध आदि) के संबंध में हम अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाहते हैं। हम सलाह से पूरी तरह सहमत हैं क्योंकि सतर्कतापूर्वक अपना दिल खंगालने के बाद हमारी चेतना हमसे कहती है कि ये बातें न्याय के बिल्कुल अनुरूप हैं और जब तक हिंदू किसी भी पशु की खुद ही बलि देते रहेंगे और कसाइयों को पशु बेचते रहेंगे, जैसा कि वे करते हैं, धर्म के नाम पर गो-वध या पशु बलि के संदर्भ में किसी अन्य के खिलाफ उचित ढंग से निषेधाज्ञा नहीं लगा सकते। लेकिन व्यक्तिगत तौर पर हम गोमांस और सुअर के मांस और किसी भी तरह सभी पशु मांस के समान रूप से बराबर ढंग से त्याग के पक्ष में हैं। इसलिए हम भी व्यक्तिगत तौर पर विश्वास नहीं करते हैं कि ईश्वर को किसी तरह की रक्त बलि स्वीकार्य है–चाहे वह हिंदू या मुस्लिम या यहूदी हो। हमें विनम्रतापूर्वक विश्वास है कि उसे जो एकमात्र त्याग स्वीकार है, वह है आत्मत्याग। इस संदर्भ में हम कुरआन के उन शब्दों पर यकीन कर अपनाना बेहतर समझते हैं जो घोषणा करते हैं कि "बलि के इन पीड़ितों का न मांस या न खून अल्लाह तक पहुंचता है; उस तक जो पहुंचता है, वह है पाप के खिलाफ तुम्हारी सुरक्षा और तुम्हारी शुद्धता।" हम समझते हैं कि अंततः जब भावना और कारण का एक-दूसरे में मिलन हो जाएगा तो पशुओं की बलि और उनके संरक्षण का पूरा सवाल उस दायरे से बाहर आ जाएगा जिसे आज धर्म माना जाता है और इस पर मनोवैज्ञानिक, मेडिकल और अर्थ विज्ञान के प्रकाश में निर्णय लिया जाएगा।

III. अंत में, "I धार्मिक-शैक्षिक' के अंतर्गत हम एक सलाह जोड़ेंगे कि सभी शैक्षिक संस्थाओं में अन्य काम आरंभ करने से पहले सभी जातियों के सभी विद्यार्थियों को कुछ मिनट के लिए एक साथ बैठना चाहिए और बिना कोई

आवाज निकाले शांति से और बिना अंग हिलाए अपने दिल में प्रार्थना करनी चाहिए कि हर जगह घृणा समाप्त हो, कि *सल्म, शांति* और मंगल-भाव का पूरी दुनिया में शासन हो और सभी मनुष्य प्रसन्न रहें। कांग्रेस समितियों की या कांग्रेस के अंतर्गत होने वाली सभी बैठकें भी इस तरह की संक्षिप्त शांति और गतिहीन प्रार्थना के बाद शुरू होनी चाहिए

भगवान दास
सुंदरलाल

पृथक टिप्पणी

I.

30 मार्च को अपने प्रस्ताव के अंतर्गत कांग्रेस द्वारा हमारी समिति को सौंपे गए काम के दायरे के संदर्भ में अपने सहयोगियों से मेरा मत भिन्न है। मेरा विचार रहा है कि कांग्रेस ने यह विचार नहीं किया कि हमें हिंदू-मुस्लिम समस्या के संपूर्ण दायरे को समेटना, प्राचीन और आधुनिक समय में दो समुदायों के रिश्तों का विश्लेषण, वर्तमान कलह के आरंभ की खोज, इसके विकास की पड़ताल और अंततः समस्या के समाधान के स्थायी उपायों की सिफारिश करना है। मुझे लगता है कि उस वक्त यह विचार था कि समिति के सदस्यों को कानपुर के साथ तत्काल संपर्क, दो समुदायों के बीच विरोधों पर नियंत्रण और शांति तथा शुभकामना की वापसी करनी चाहिए ताकि कलह आगे नहीं फैले। लेकिन मेरे सहयोगियों ने मुझसे अलग दृष्टि ली और कांग्रेस ने समिति को जो काम सौंपा था, उससे भारी भार ले लिया। समिति को इस तरह पिछले दशक के दौरान कई एकता सम्मेलनों के प्रयासों और किए गए समझौतों से भी अधिक चौड़ा दायरा समेटना पड़ा।

II

कांग्रेस प्रस्ताव के अभिप्राय और हमारे अधिकार के दायरे पर हालांकि मेरी राय समिति के बहुमत से भिन्न रही, मैंने समिति को अपना पूर्ण सहयोग देने और उस भारी काम में अपनी हरसंभव मदद देने का निश्चय किया जो इसने खुद अपने लिए तय किया था। इस तरह, अब पेश की कई रिपोर्ट की तैयारी में मैंने अपनी विनम्र हिस्सेदारी की। रिपोर्ट के तीन हिस्सों में से मैं पहले हिस्से के

भाग 'ब', अर्थात् ब्रिटिश काल और पूरे दूसरे तथा तीसरे हिस्से से सहमत हूं–तीसरे हिस्से के सिर्फ एक भाग को छोड़कर जिसके बारे में मैं बाद में बताऊंगा। जहां तक पहले हिस्से के भाग 'अ', अर्थात् मुस्लिम काल का सवाल है, मुझे अफसोस है, हमारे पास उतना काम करने का समय नहीं था जितना अन्य हिस्सों के संदर्भ में किया गया। इसलिए इसकी संपूर्णता में रिपोर्ट के इस हिस्से के साथ मैं अपनी सहमति देने की स्थिति में नहीं हूं। मेरी समझ से इसकी इतिहास के अन्य तथ्यों से और जांच तथा सुधार की जरूरत है।

फिर भी, मैं उससे सहमत हूं जिसे मैं मुस्लिम काल की मुख्य बातें मानता हूं, अर्थात् (1) कि हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच लंबे संबंधों के बाद सामाजिक और धार्मिक सम्मिलन था जिसमें सांप्रदायिक चेतना, जो आज हमें ऊहापोह में डालती है, का कोई स्थान नहीं था और (2) कि तलवार असली शक्ति नहीं थी जिससे इस्लाम में धर्म परिवर्तन हुए बल्कि यह सामाजिक संघटन था जिसने सामाजिक गैर बराबरी और अत्याचारों से पीड़ित लोगों को इस ओर आकर्षित और संबंधित किए रखा।

पहले विषय पर रिपोर्ट में सम्मिलन की घटनाएं बताते हुए कई विवरण दिए गए हैं जो हालांकि विकास के चरण में थे, लेकिन जो बहुत स्पष्ट हो गए थे। मुस्लिम और हिंदू राजाओं, राजकुमारों और शासकों के दरबार इस सम्मिलन के प्रमुख उदाहरण हैं लेकिन यह जीवन के सभी क्षेत्रों और लोगों के सभी वर्गों के बीच अपने आप प्रत्यक्ष था। वस्त्र और व्यवहार, मनोविनोद और खेल, ज्ञान और बोल-चाल के तरीके और जीवन के प्रति आम दृष्टि–ये सब इसके निस्संदेह प्रमाण थे। हिंदू और मुसलमान साथ-साथ रहते थे और आमतौर पर रिश्तेदारों तथा बंधु-बांधवों की तरह उनका व्यवहार अस्वाभाविक नहीं था। मकतब और पाठशाला, जहां हिंदू और मुस्लिम युवक पढ़ते थे, में एक ही शिक्षक से फारसी, हिंदी या उर्दू पढ़ना आम दृश्य था। मेरे पहले शिक्षक, जिन्होंने मुझे बचपन में अंकगणित और हिंदी वर्णमाला की आरंभिक शिक्षा दी, एक देहाती मुस्लिम गुरु थे। स्मृति में अब भी वह चिंताकुल प्रसन्नता है कि कैसे पीपल के एक पेड़ की छाया में एक चबूतरे पर बैठकर मेरे नन्हे हाथ अपने हाथ में लेकर उन्होंने ध्वनि प्रतीकों को व्यग्र करने वाली चीजों को खोजने में मुझे मदद की।

धार्मिक पक्ष पर कबीर, नानक, रैदास, बुल्लेशाह, दादू, पल्टू, यारी साहिब, शाह अब्दुल लतीफ अभिमान और विचार की गहराई तथा भावना का प्रतिनिधित्व करते थे जो हिंदुत्व और इस्लाम की कट्टरता का अतिक्रमण करते तथा दोनों को सच्चा मार्ग दिखलाते थे।

दूसरे विचार के संदर्भ में मैं निश्चित मत का हूं कि उच्च जातियों द्वारा हिंदुत्व की सीमा में निम्न जातियों के साथ व्यवहार भारत में इस्लाम की सफलता

के लिए अधिकांशतः उत्तरदायी था। मैं इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं करता कि कई मुस्लिम महाराजाओं के शासन के दौरान हिंदुओं को परेशान किया गया और उन पर धार्मिक कारणों से अत्याचार किए गए और कि कई लोगों का जबरन धर्म परिवर्तन किया गया; लेकिन जब इन सबको जोड़ा जाता है तो धर्म परिवर्तन का बहुत बड़ा हिस्सा शेष रह जाता है जो मुसलमानों के धर्म परिवर्तन के जोश और उनकी सामाजिक सुव्यवस्था की बराबरी वाली प्रकृति के खाते में जाता है और हिंदुओं की जातीय, छुआछूत और विशिष्टता की इच्छा वाली व्यवस्था के खाते से निकल जाता है। और हिंदुत्व से धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया अपने आप में अब भी समाप्त नहीं हुई है। इस्लाम में कैसे धर्म परिवर्तन हुए, इसका ठीक अंदाजा हमें ईसाई धर्म में दक्षिण में हो रहे परिवर्तनों को देखकर लग सकता है। छह साल से कुछ पहले किसी सार्वजनिक कार्यक्रम में भाग लेने के लिए तिरूनेलवेली जाने का मुझे अवसर मिला। मुझे एक दोस्त ने बताया कि, जो उस जिले के ही निवासी हैं, पांच साल के भीतर तथाकथित निचली जातियों के संपूर्ण गांवों के समूहों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है। उत्तरी भारत में भी हम जानते हैं—हालांकि दक्षिण की तरह यहां यह प्रक्रिया उतनी तेज या उतनी स्पष्ट नहीं है—कि हिंदू समाज के तथाकथित अछूत समाज में अपना स्तर बढ़ाने या उच्च जातियों के अत्याचार से बचने के लिए कभी-कभी ईसाई या इस्लाम धर्म अंगीकार कर लेते हैं। मुस्लिम शासन के दौरान बड़ी संख्या में इस्लाम में धर्म परिवर्तन का मुख्य कारण यही रहा होगा। इस्लाम शासकों का धर्म होने और दरबारों तथा प्रशासनिक कार्यालयों में मुस्लिमों को विशेष प्राथमिकता मिलने के तथ्य भी धर्म परिवर्तन के असली लालच रहे होंगे।

ऊपर के दो मुद्दों पर एक महत्वपूर्ण विचार मुस्लिम वर्ग में किया गया है और मैं सहमत हूं कि विभिन्न देशों के मुस्लिम शासक उस तरह पूरी तरह से असहिष्णु नहीं रहे हैं जितना उन्हें बताया जाता है। निश्चित तौर पर असहिष्णुता की कुछ घटनाएं हुई हैं लेकिन विस्तृत और विस्तारित परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक कालों की दृष्टि से मुस्लिम शासक उल्लेखनीय सहिष्णुता दिखाते हैं और मध्य काल में ईसाई सम्राटों के साथ निश्चित तौर पर बहुत सहयोगी रहते हैं। शांति और युद्ध—दोनों के दौरान कई स्थानों पर मुस्लिम और ईसाई एक-दूसरे के निकट संपर्क में आए हैं और यूरोपीय विद्वानों ने भी इस बारे में जो वर्णन किया है, उनके संबंधों के इतिहास के बारे में पढ़कर मुसलमानों की संस्कृति, शूरवीरता के गुण और धार्मिक सहिष्णुता की ठोस जानकारी मिलती है। चाहे येरुशलम में या हंगरी में या स्पेन में, उन लोगों ने दिल का बड़प्पन और समझ का विस्तार प्रदर्शित किया था जिसने उनके ईसाई साथियों के कामों से भी बड़ी बुलंदियां हासिल की थीं। इससे संबंधित कहानी है कि जब हंगरी और तुर्की

15वीं शताब्दी में सर्बिया के स्वामित्व के लिए युद्धरत थे, सर्बिया के राजकुमार जार्ज ब्रैंकोविच, जो ग्रीक चर्च का अनुयायी था, ने हंगरी के राजा से पूछा कि वह जीता तो क्या करेगा? उसका उत्तर था, "रोमन कैथोलिक चर्च की स्थापना।" तब वह सुल्तान के पास गया और उससे पूछा कि जीतने पर वह सर्बियायियों के धर्म के साथ क्या करेगा? सुल्तान का उत्तर था, "हर मस्जिद की बगल में एक चर्च होगा और हर व्यक्ति को पूजा के तरीके की स्वतंत्रता होगी जिसे वह चुनना चाहे।"

ईसाईयत इस्लाम से कई शताब्दियों पहले आई। इसने पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका में अपने आपको पहले ही स्थापित कर लिया था और तब भी हम पाते हैं कि ईसाइयों ने इन क्षेत्रों में प्रसन्नता से इस्लाम को अंगीकार किया था। अपने विकास के शुरुआती वर्षों के दौरान, ऐसा लगता है कि, इस्लाम में एक आकर्षण था जिसने गरीब और दमित—चाहे यहूदी, ईसाई या हिंदू हों—लोगों के दिमाग में बहुत शक्तिशाली जगह बना ली। वस्तुतः, यह कई दफा हुआ है कि बड़ी राजनीतिक दुर्गति की अवधियों के दौरान पराजित और वंचित कर दिए गए मुसलमानों ने अपने विश्वास की बड़ी उपलब्धियां हासिल की हैं और अपने विजेताओं के बीच धर्म परिवर्तन किए हैं। मुगलों ने मुस्लिम देशों पर आक्रमण किए, उन्हें जीता और लूटा तथा लाखों मुस्लिम निवासियों की निर्दयतापूर्वक हत्या की लेकिन अंततः इस्लाम की तह में खुद को वापस कर लिया। महमूद और औरंगजेब (जो अपने देश के साथ मुस्लिम संबंधों के विगत इतिहास से इतने गुंथे हुए हैं) इस्लाम के सच्चे ऐतिहासिक प्रतिनिधि नहीं हैं। वे सबसे बुरे इस्लाम का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्य मतों के लोगों के साथ मुसलमानों के व्यवहार का सही परिप्रेक्ष्य हासिल करने के लिए हमें उन बड़ी संख्या वाले एशियायी, यूरोपीय और अफ्रीकी देशों के इतिहासों पर नजर दौड़ानी चाहिए जहां इस्लाम फला-फूला। स्पेन के हब्शी कला, ज्ञान, संस्कृति, सहिष्णुता और शिष्टता में कई शताब्दियों तक यूरोप की प्रेरणा रहे। यहां तक कि यूरोपीय इतिहासकारों ने उनके प्रशासन और उपलब्धियों को उत्साह और मुक्तकंठ से लिखा है। कोरडोवा और ग्रेनाडा मध्य युग के इतिहास में दो उज्ज्वल चिह्न हैं जिन्होंने यूरोप में चारों ओर से घिरे अंधकार में प्रकाश फैलाया और प्रगति तथा ज्ञान का मार्ग दिखाया। चार लाख की आबादी वाले ग्रेनाडा के छोटे शासन में 17 कालेज, 70 सार्वजनिक पुस्तकालय और 200 प्राथमिक पाठशालाएं थीं। कहा जाता है कि ग्रेनाडा में हर कालेज के गेट के ऊपर इसके आदर्श के तौर पर निम्नलिखित पंक्तियां खुदी हुई थीं : "दुनिया सिर्फ चार चीजों पर टिकी हुई है—बुद्धिमान के ज्ञान, बड़ों के न्याय, अच्छों की प्रार्थना और वीर का पराक्रम।" हब्शियों को स्पेन से निर्दयतापूर्वक निकाले जाने के बाद देश को वह गौरव और महानता कभी नहीं

मिल पाई जो इसने हब्शी सरकार की अवधि के दौरान पाई थी। हब्शियों के जाने के बाद ग्रेनाडा की निर्जनता के बारे में स्पेन देश के निवासी कोंड ने लिखा : "एक अनंत अंधकार से देश भर गए हैं जो उनकी उपस्थिति से प्रकाशित तथा सुशोभित थे। प्रकृति नहीं बदली है। वह उसी तरह मुस्करा रही है जैसे वह सब दिन थी; लेकिन लोग और उनके धर्म बदल गए हैं। निर्जन भूमि अवशेषों पर कुछ क्षतिग्रस्त स्मारक अब भी हैं लेकिन इन स्मारकों, इन उदासीन अवशेषों के बीच सच्चाई की चीख आती है: 'पराजित अरब के लिए सम्मान और गौरव तथा विजेता स्पेनवासियों के लिए नाश और दुर्गति।' "

मुसलमानों और ईसाइयों के इतिहासों का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को मजबूती से सामने लाता है कि अपने मत के लोगों या गैर ईसाइयों के साथ व्यवहार में ईसाईयत ने सहिष्णुता और दृष्टि के विस्तार का सौवां हिस्सा भी नहीं दिखलाया है जो मुस्लिम शासकों के प्रशासन का आमतौर पर चरित्र रहा है। अमेरिका के रेड इंडियंस या नीग्रो जाति पर ईसाई शक्तियों के संगठित अत्याचार के समानांतर इस्लाम के इतिहास में कुछ भी नहीं है। खुद ईसाइयों के साथ मुसलमानों का व्यवहार उससे प्रबल ढंग से विपरीत रहा जो ईसाइयों ने उन लोगों के साथ किया। इस रवैये को लियो पर्याप्त संतुष्टि के साथ इस बात से जोड़ते हैं कि बाइजेंटाइनों द्वारा क्रीट की पुनर्विजय पर द्वीप में मुस्लिम उपनिवेश में रहने वालों की "जिंदा खाल उतार ली गई या उन्हें खौलते तेल की कड़ाहियों में फेंक दिया गया।" सन् 1610 में निकाल दिए गए एक स्पेनी मुस्लिम के शब्दों में भी विपरीत रवैये को सुंदर ढंग से सामने रखा गया है जो प्रतिरोध में और तीव्र वेदना में कहे गए हैं—"क्या हमारे विजेता पूर्वजों ने कभी एक बार भी ईसाईयत का स्पेन से नाश करने का प्रयास किया जब वह उनकी सत्ता में था?" क्या उन लोगों ने तुम्हारे पूर्वजों को उसी समय अपने तरीके से प्रार्थना करने का स्वतंत्र उपयोग करने की छूट नहीं दी? जबरन धर्म परिवर्तन के कुछ उदाहरण हों भी, तो वे इतने दुर्लभ हैं कि उल्लेख लायक नहीं और सिर्फ ऐसे लोगों के प्रयास हैं जिनकी आंखों के सामने परमात्मा और मुहम्मद का भय नहीं था और ऐसा कर जिन्होंने इस्लाम के पवित्र उपदेशों और नियमों के प्रत्यक्ष और बिल्कुल विपरीत काम किया जिसका पवित्र वस्तु को दूषित किए बिना कोई उल्लंघन नहीं कर सकता जो मुसलमान की सम्माननीय उपाधि की योग्यता रखता हो। तुम पंथों के अनुसरण के मामले में हमारे बीच किसी रक्तपिपासु औपचारिक धर्मसभा को कभी नहीं प्रस्तुत कर सकते जो किसी तरह तुम्हारी घृणित तहकीकात के बराबर हो। यह सच है, हमारी बांहें उन सभी को स्वीकार करने के लिए खुली रहती हैं जो हमारे धर्म को अंगीकार करने के इच्छुक हैं लेकिन हमारे पवित्र कुरआन ने हमें चेतनाओं पर अत्याचार की अनुमति नहीं दी है।"

इन कुछ वाक्पटु शब्दों में, मुझे लगता है, मध्य युग में इस्लाम के पूरे इतिहास को समेट दिया गया है। मैं स्वीकार करता हूं कि उनके इतिहास को पूरा पढ़ते हुए मुसलमानों की शूरवीरता, इच्छाहीनता और मुक्तहस्त उदारता ने मुझे बराबर चमत्कृत किया है और मेरा दिल उनकी तरफ लगा दिया है। मुझे याद है, इस तसवीर का दूसरा रुख भी था कि कुछ भटके हुए मुसलमानों ने पहले और वर्तमान दिनों में दंगों के दौरान अब भी कभी-कभार जबरन धर्म परिवर्तन करने की कोशिश की, कि उन लोगों ने मंदिर क्षतिग्रस्त कर और इस्लाम स्वीकार न करने वाले लोगों की हत्या कर असहिष्णुता दिखलाई है कि उन लोगों के बीच ऐसे लोग हैं जो धर्म के कम महत्वपूर्ण सिद्धांतों पर भिन्न विचार रखने वाले लोगों पर अत्याचार ढाते हैं, कि सुन्नियों ने शियाओं की बर्बर हत्याएं की हैं और अल्पसंख्यक होने के कारण शियाओं ने सुन्नियों की हत्या के लिए समूहों को संगठित किया है। लेकिन जब हम यह कहते हैं, हम सिर्फ इस सत्य को दुहराते हैं कि मानव प्रकृति निर्दोष नहीं है, कि मानव की इच्छा, लोभ और धार्मिक हठ दुनिया की सभी बुराइयों के लिए उत्तरदायी रही है और है तथा इन सबने लिखित एवं अलिखित इतिहास की लंबी अवधि के दौरान लाखों कर्बलाएं की हैं। इन बुराइयों से दुनिया कभी मुक्त होगी या नहीं अथवा शायर गालिब के शब्दों में (मेरी तामीर में मुजमिर है एक सूरत खराबी की) हमारी रचना और बनावट में ही यह समाहित है—इस पहेली का उत्तर नहीं दिया जा सकता।

लेकिन इतिहास और मनोविज्ञान के मिलावटी अध्ययन से एक तथ्य साफ तौर पर उभरता लगता है कि धर्म में सहिष्णुता की बड़ी बाधाएं हैं और कि सिर्फ सहिष्णुता की भावना दूसरों को समान विचार को एकमात्र मानने के लिए दबाने, डाका डालने और जबर्दस्ती करने की प्रवृत्तियों के खिलाफ कमजोर सुरक्षा है। कुरआन सहिष्णुता की शिक्षा देता है—"धर्म में कोई बाध्यता नहीं हो"[87] इसका सनातन उपदेश है। और सुंदरता के साथ इस उपदेश का कारण है : "लेकिन अगर तेरे खुदा ने सचमुच उन सबको संतुष्ट किया है जो इस दुनिया में रहते हैं तो सबने एक साथ यकीन किया होता। तो फिर यकीन करने के लिए तुम उन्हें झुकने को मजबूर क्यों करते?"[88] बाइबल इन उत्तम शब्दों में सहिष्णुता और क्षमता की शिक्षा देता है : "कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर मारता है तो अपना दूसरा गाल भी उसकी ओर बढ़ा दो।"[89] कुरआन का यह उपदेश—"पाप का पारितोषिक वह दो जो बेहतर हो"[90] ईसाई उपदेश की लगभग सविस्तार व्याख्या

87. कुरआन, ii, 256
88. वही, x, 99
89. मैथ्यू, v., 1-4
90. कुरआन, xii, 34

है। इसी विचार को कुरआन के इन शब्दों में पूरे विस्तार से बताया गया है : "और उन लोगों के लिए आकाश और पृथ्वी जैसा विस्तृत सुखभवन तैयार किया गया था जिन्होंने अपने क्रोध पर अंकुश कर लिया और दूसरों को क्षमा कर दिया।"[91]

हम जानते हैं कि इन महान उपदेशों ने तब शक्तिशाली अवरोधों के तौर पर काम किया जब धन या शक्ति की उत्कंठा या लालसा से उत्तेजित मुसलमानों और ईसाइयों ने अपने भाई-बंधु के घरों की दुर्गति की या उन्हें उजाड़ दिया। जैसा कि ऊपर बताया गया है, मुसलमानों के मामले में मुहम्मद के उपदेश को काम में उससे अधिक मान दिया गया है जितना ईसाइयों ने ईसा के उपदेश को दिया है।[92] लेकिन मुसलमानों के बीच सही सोच वाले बिना क्लेश स्वीकार करेंगे कि उनके इतिहास में भी धर्म के नाम पर खूनी और लुटेरेपन के काले धब्बे हैं।

लेकिन महान व्यक्तियों में हम जिस तरह की जब-तब चमक देखते रहते हैं, उस तरह की संपूर्ण स्थिति लोगों में आमतौर पर लाने से पहले हमें सिर्फ सहिष्णुता से अधिक जीवन के सिद्धांत तय करने होंगे। सहिष्णुता की भावना को कुछ अधिक ऊपर उठाना होगा और धर्म के मिश्रित और विचारयुक्त विचार को अपनाना होगा तथा अपने से इतर दूसरों के धर्मों को मूलभूत अच्छाई की सहानुभूतिपूर्ण स्वीकृति देनी होगी।

भगवद्‌गीता कहती है, "जो भी व्यक्ति मुझे पुकारता है, मैं उसका स्वागत करता हूं क्योंकि ओ पार्थ! व्यक्ति जो भी रास्ता अपनाता है, वह मेरा है।"[93]

और फिर-

"ओ कुंती पुत्र : दूसरे देवी-देवताओं के उपासक भी जो पूरी श्रद्धा से पूजा करते हैं, मेरी ही आराधना करते हैं हालांकि उनका यह काम स्थापित रीति के तहत नहीं होता।"[94]

भिन्न मतों को मानने वाले लोगों के साथ इस महान सिद्धांत की स्वीकारोक्ति में ही शांति, प्रगति और प्रसन्नता बसती है।

---

91. कुरआन, iii, 133-134
92. ईसाई सैनिकों ने कई मौकों पर ईसा को दया और प्रेम के महापुरुष से युद्धप्रिय पथप्रदर्शक और अपने निर्दयी युद्धों में मददगार के तौर पर बदल दिया है। धर्मयुद्धों के दौरान येरुशलम में मुसलमानों के खिलाफ लड़ने के लिए जाते समय ईसाई सम्राटों के बैनरों पर ईसा के चित्र लगा दिए गए थे।
93. भगवद्‌गीता, iv. 11
94. भगवद्‌गीता, ix. 23

III

पहले अध्याय के कानपुर दंगों से संबंधित हिस्से में एक छोटा शीर्षक है– 'कांग्रेस पर सांप्रदायिकता का प्रभाव।'

लगता है, कुछ कांग्रेसी प्रतिरक्षक सांप्रदायिक कार्रवाई की बातों में उलझे हैं। हम सभी सहमत हुए कि देशभक्ति की जरूरत है कि इस तरह का कोई मानसिक अवरोध नहीं होना चाहिए। लेकिन कानपुर के कार्यकर्ताओं से मेरी जानकारी से मैं महसूस करता हूं कि उस शीर्षक के अंतर्गत अंतिम पैराग्राफ में उपयुक्त भाषा उससे अधिक कठोर और अधिक पूर्णार्थक हो गई है जितनी इसे होनी चाहिए थी।

रिपोर्ट में दंगों के दौरान कानपुर के कांग्रेसजनों के अच्छे काम का उल्लेख किया गया है। हमने भी श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के महान बलिदान के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। यह महज संयोग नहीं था कि कानपुर के कांग्रेसजनों के बीच से एक गणेश शंकर का जन्म हुआ था। वह हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए महान त्याग करने वाले कार्यकर्ताओं के समूह के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे।

IV

रिपोर्ट के तीसरे भाग में गो-वध के सवाल पर "सामाजिक उपाय" के भाग 8 के अंतर्गत विचार किया गया है। मैं उस तरीके से सहमत नहीं हूं जिस तरह इस सवाल को निबटाया गया है। हम जानते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संबंधों को सांचे में ढालने में इस सवाल ने पहले भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मुस्लिम शासन के दौरान प्रदर्शित सहिष्णुता की भावना के बारे में मैंने ऊपर कहा है। यह सामाजिक जीवन के आयामों में से एक जिसमें वह सहिष्णुता बिल्कुल स्पष्ट थी, बड़ी बात थी जो मुस्लिम शासकों ने गाय के मामले में हिंदू भावना के प्रति प्रत्यक्ष तौर पर प्रदर्शित की। वर्तमान रूप में गाय का सवाल ब्रिटिश शासन की देन है। मुस्लिम काल के दौरान हम संगठित रूप में गो-वध की बात नहीं पढ़ते हैं। वस्तुतः, हमारे पास किसी भी उद्देश्य के लिए गो-वध पाबंदी के बारे में मुस्लिम शासकों के साफ आदेशों के रिकार्ड हैं। हम यह भी जानते हैं कि 1857 की लड़ाई के दौरान हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सहमति के बिंदुओं में से एक जिसने इस तरह का मजबूत गठबंधन बनाया, देश में गो-वध पर रोक थी।

प्रत्यक्ष भिन्नताओं के बावजूद हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की एकता की जरूरत पर हमने रिपोर्ट में जोर दिया है, हमने दिखाया है कि धार्मिक मिश्रण तैयार

किया जा रहा था जिसमें परिदृश्य पर ब्रिटिश आगमन से व्यवधान पहुंचा और हमने अपनी सभी सिफारिशों के लक्ष्य के तौर पर दो संस्कृतियों के पूर्ण सम्मिलन की गुजारिश की है। इस विचार के मद्‌देनजर मुझे लगता है कि गाय के सवाल को उस तरह नहीं लिया गया है जो इस लक्ष्य को और नजदीक लाने में मददगार होता। हम उतना जोर देकर अनुरोध नहीं कर सकते कि एक हिंदू को गो-वध प्रतिबंध के लिए किसी भी तरह का बल प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए लेकिन ठीक उसी तरह एक ऐसी स्थिति लाने के लिए निश्चित कदम उठाया जाना चाहिए जिसके अंतर्गत इस सवाल पर तनाव संभव नहीं हो। यह, मुझे लगता है, ऐसा निश्चित करने से हो सकता है कि सभी गो-वध इस उद्देश्य के लिए निर्मित कसाईखानों में ही सिर्फ किए जाएंगे और गांवों में जहां कोई कसाईखाना नहीं है, आबादी से दूर इस तरह ताकि हिंदुओं की भावना आहत न हो।

इस सवाल से निबटने के दो तरीके हैं। एक तो यह है कि हिंदुओं को गाय के संबंध में अपनी भावनाओं को त्यागने और इस विचार को स्वीकार करने को कहा जाए कि गाय को भी अन्य जानवरों की तरह मारा जा सकता है। दूसरा तरीका वह है जो इस देश में पारंपरिक है, अर्थात् मुसलमानों समेत इस देश के सभी निवासियों को गाय की हत्या से रोका जाए। कई मुस्लिम नेताओं ने दो समुदायों के बीच भाईचारे के संबंधों के हित में भारत में गो-वध रोकने की समय-समय पर मुसलमानों को सलाह दी है और अपने तर्क के समर्थन में धार्मिक तथा ऐतिहासिक कारण उपस्थित किए हैं। मैं मुस्लिम समुदाय को उसी तरह की सलाह देने में खुद को सक्षम महसूस नहीं करता हूं। लेकिन साथ ही साथ मैं संपूर्ण हिंदू-मुस्लिम मिश्रण का सपना देखने वाला हूं। मैं एक ही मुहल्ले में अगल-बगल के घरों में हिंदुओं और मुसलमानों को रहते देखना और बहुत अधिक सामाजिक संबंध रखते देखना चाहता हूं। और मैं चाहता हूं कि हिंदू और मुस्लिम महिलाएं पुरुषों की तरह ही सामाजिक संबंध रखें। यह सपना तब तक पूरा नहीं होने वाला है जब तक हिंदू घरों के बगल के मुसलमानों के निजी घरों में गायें काटी जाएंगीं। जब इस तरह गायों को काटा जा रहा हो, हिंदुओं को शांत रहने को प्रेरित किया जा सकता है लेकिन इस तरह के पड़ोस में रहने में कोई प्रसन्नता और खुशी नहीं होगी जहां इस प्रकार का वध हो सके।

आज भी मुसलमानों के लिए काटे जाने वाली गायों की संख्या बहुत छोटी है और मैं नहीं सोचता कि कोई कठोर क्लेश होगा अगर गो-वध *आबादी* से कुछ दूरी पर बनाए गए सिर्फ कसाईखानों में ही हो और निजी घरों में इसकी अनुमति कभी नहीं दी जाए। हिंदुओं को यह स्थिति स्वीकार करनी चाहिए और

गाय का सवाल तब दो समुदायों के विभाजन का कारण नहीं बन पाएगा।

उपचार के सुझाए गए अन्य उपायों से मैं पूरी तरह सहमत हूं। हमने वे सभी संभावित मार्ग समाप्त नहीं किए हैं जिससे हिंदुओं और मुसलमानों को एक साथ लाया जा सकता है बल्कि हमने उन बिंदुओं की ओर संकेत किया है जो अगर अपनाया जाए तो पूरे वातावरण में परिवर्तन तुरंत लाएगा जो अपने आप अन्य बंधनों और संबंधों की ओर ले जाएगा ताकि अंततः उनकी अलग-अलग पहचान हिंदुस्तानी राष्ट्र के एक बड़े व्यक्तित्व में समाहित हो सके।

पुरुषोत्तम दास टंडन

मतभेद की टिप्पणी

मैंने ऐतिहासिक सिंहावलोकन में पाद टिप्पणियों के जरिये अपने विचार प्रकट किए हैं। दंगों के साथ निबटने वाले हिस्से ने अपना अधिकांश प्रभाव खो दिया है जब निम्नलिखित हिस्से को पूरी समिति द्वारा एक बार विचार करने और पारित करने के बाद हटा दिया गया था :

"हमने कानपुर के कुछ बहुत ही प्रमुख कांग्रेजसनों के सामने सीधा सवाल रखा : 'कानपुर के तीस प्रमुख कांग्रेसजनों में से कितने आपकी नजर में सांप्रदायिक भावना आदि से पूरी तरह ऊपर हैं?' हमने तीस की संख्या चुनी क्योंकि शहर कांग्रेस कार्यसमिति में तीस निर्वाचित सदस्य हैं। उनके उत्तर खुले और विशिष्ट थे; हम गवाहों के नामों को दिए बिना उनके अपने शब्दों में उन्हें पुनः प्रस्तुत करते हैं क्योंकि ये बयान बंद कमरे में दिए गए थे।

"एक सज्जन कहते हैं :

"हिंदू-मुस्लिम भावना से बिल्कुल ऊपर वाले लोग खुर्दबीन से खोजी जाने वाली अल्पसंख्यकता में हैं–यहां के कांग्रेस संगठन में। दो या तीन से अधिक नहीं–शेष सभी प्रतिरोधक सांप्रदायिक हैं और आक्रामक सांप्रदायिक नहीं। मैं मालवीयजी को प्रतिरोधक की तरह और भाई परमानंद को आक्रामक सांप्रदायिक मानता हूं।... तीस की हमारी कार्यसमिति में एक दर्जन ऐसे हैं जो सोचते हैं कि हिंदुओं को अलग संगठित किया जाना चाहिए ताकि जब भी जरूरत हो, उन्हें आत्मरक्षा के लिए तैयार किया जाना चाहिए।'

"दूसरे कहते हैं :

'कानपुर में कोई अन्य प्रमुख कांग्रेसी सांप्रदायिकता से उतने ऊपर नहीं हैं, जितने गांधीजी थे। गणेशजी के सबसे निकट———— हैं। उसके बाद

————आते हैं। फिर————आते हैं।————का भी यही हाल है। (फलां-फलां) कुछ साल पहले संगठन से थे और कथावाचक भी। (फलां-फलां) सांप्रदायिक हैं। सन् 1927 के दंगों में उन्होंने–के साथ हिंदुओं की तरफ से हिस्सा लिया। वह इस मामले में पूरी तरह पक्षकार हैं।————और———— जैसे जिला कार्यकर्ता उसी तरह हिंदू हैं। इसी तरह–। मुझे गोपनीय तौर पर सूचित किया गया है कि इन लोगों ने जिले में सांप्रदायिक समस्या खड़ी की। मैं जिला कांग्रेस कमेटी के पदाधिकारी के तौर पर————(एक बहुपरिचित मुस्लिम सज्जन का नाम) देखकर शर्मिंदा हूं क्योंकि वह सांप्रदायिक हैं। हिंदू महासभा के————हमारे उपाध्यक्षों में से एक थे। ...मैं इसे अच्छा नहीं समझता कि एक कांग्रेसी को संगठनी या हिंदू महासभायी होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि हिंदू-मुस्लिम भावना के इस मामले में कांग्रेसजनों के बीच हृदय के शुद्धीकरण की बड़ी जरूरत और इच्छा है। बहुत कम ही हैं जो सांप्रदायिकता से ऊपर हैं।'

"तीसरे कहते हैं :

''शहर के तीस प्रमुख कांग्रेसजनों में से सांप्रदायिक भावना को लेकर सभी स्तरों के लोग हैं। मैं समझता हूं, इनमें से दो या तीन को हिंदू-मुस्लिम भावना से पूरी तरह ऊपर कहा जा सकता है। लगभग दस से पंद्रह में हल्का हिंदू रंग है।... दो या तीन आक्रामक सांप्रदायिक हैं और शेष दस या बारह प्रतिरक्षक चरित्र के सांप्रदायिक हैं। वे लोग दूसरे समुदाय के प्रति कोई क्षति नहीं पहुंचाना चाहते लेकिन आत्मरक्षा के लिए हिंदुओं को, अपने को संगठित करने में यकीन जरूर करते हैं।

"चौथे इस सवाल के संबंध में अपने साथियों को चार वर्गों में विभाजित करते हैं। पहली श्रेणी में वह उन लोगों को रखते हैं जो हिंदू-मुस्लिम भावना से बिल्कुल ऊपर हैं। दूसरे में वे उन्हें रखते हैं जिनमें उस भावना का हल्का रंग है लेकिन जो इसे व्यवहार में नहीं दिखाते हैं। तीसरे में वह प्रतिरक्षक हिंदू सांप्रदायिकों को रखते हैं और चौथे में आक्रामक हिंदू सांप्रदायिकों को। इन श्रेणियों को बनाने के बाद वह कहते हैं :

'गणेशजी भले ही पहली श्रेणी के हों, हमारी कमेटी में कोई दूसरा इसमें नहीं है। (फलां-फलां) दूसरी श्रेणी में हैं। हमारे सदस्यों के बहुसंख्यक तीसरी श्रेणी में हैं। सिर्फ एक, जिनका नाम (फलां-फलां) है, जहां तक मैं जानता हूं, चौथी श्रेणी के हैं।'

"पांचवें कहते हैं :

''मैं सोचता हूं, कानपुर के तीस प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ताओं में से करीब तीन लगभग — की तरह सांप्रदायिक भावना से पूरी तरह ऊपर हैं; करीब चार

या पांच प्रतिरक्षक हिंदू सांप्रदायिक हैं; करीब तीन या चार आक्रामक सांप्रदायिक हैं; और शेष नौ या दस सभी कुछ अंतर के साथ एक ही तरह के हैं... (फलां-फलां) जैसे लोग भाई परमानंद के प्रशंसक हैं।

"छठे कहते हैं :

"अगर मुझे प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ताओं की सांप्रदायिक मानसिकता से संबंधित मामलों के बारे में आयोग (जांच समिति) को जानकारी देने को कहा जाता है तो मुझे खरेपन से कहना चाहिए कि एक को छोड़कर, जो अब नहीं हैं, यहां कोई कांग्रेसी नहीं है जिसे सांप्रदायिक भावना से बिल्कुल ऊपर कहा जाए लेकिन इस स्वीकारोक्ति का यह मतलब नहीं है कि कांग्रेस कमेटी बिल्कुल सांप्रदायिक संगठन है। अधिकांश सदस्यों में हल्का सांप्रदायिक रंग है लेकिन यह इसके बारे में आक्रामक या प्रमुख रूप धारण किए हुए नहीं है। कुछ निश्चित तौर पर आक्रामक ढंग से सांप्रदायिक हैं लेकिन उनकी गतिविधियां कभी भी शहर की शांति को बाधा पहुंचाने की दिशा में नहीं रही हैं।

"सातवें कहते हैं :

"मुझे यकीन है कि – पूरी तरह हिंदू-मुस्लिम भावना से ऊपर हैं। मुझे लगता है, मैं भी उसी मानसिकता का हूं। यह कहना मेरे लिए कठिन है कि कितने अन्य कांग्रेसजन इस मानसिकता के हैं। मुझे लगता है, इस मामले में वर्गीकरण है लेकिन इसका प्रतिशत देना मुश्किल है क्योंकि मैं लगभग तीन साल से कार्यकर्ताओं के साथ निकट संपर्क में नहीं रहा हूं।... कुछ हैं, एक-चौथाई हो सकते हैं... प्रतिरक्षक हिंदू मानसिकता के...

"आठवें कहते हैं :

"कानपुर के तीस प्रमुख कांग्रेसजनों में से, मुझे लगता है, अनुमानतः करीब पांच प्रतिशत सांप्रदायिक भावना से बिल्कुल ऊपर हैं। इतनी ही संख्या आक्रामक सांप्रदायिकों की है और शेष 90 प्रतिशत विभिन्न छाया वाले हैं लेकिन अधिकांशतः प्रतिरक्षक सांप्रदायिक हैं।

"नौवें कहते हैं :

"मुझे लगता है, कानपुर के तीस प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ताओं में से... बमुश्किल दो या तीन भावना से पूरी तरह ऊपर हैं। शेष सभी हिंदू संगठन के पक्ष में हैं लेकिन सिर्फ प्रतिरक्षक उद्देश्यों के लिए।"

"ऐसे वातावरण में और शीर्ष पर इस तरह के लोगों के साथ कानपुर में आंदोलन की शुरुआत की गई।

"लेकिन ऊपर जो कुछ कहा गया, उसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि हिंदू मुसलमानों से अधिक गंभीर सांप्रदायिक हैं, अगर कानपुर के तीस प्रमुख मुस्लिम नागरिकों का समान रूप से विश्लेषण किया जाए तो वे

भी संभवतः समान गुण वाले ही पाए जाएंगे। हर व्यक्ति प्रतिरोधक बनने के साथ शुरुआत करता है और आक्रामक बनने के साथ खत्म करता है। सन् 1914-18 का विश्व युद्ध विस्तृत पैमाने पर विस्तार है। लेकिन हिंदू भावना के संबंध में हमने जो कहा, उसका मतलब है कि हिंदू कांग्रेसजनों को भावना में ऊपर उठना चाहिए था, उन्हें प्रतिरोधक नहीं बल्कि आकर्षक होना चाहिए था और दूसरों की अन्यमनस्कता तथा प्रतिरोधकता को सकारात्मक ढंग से तोड़ने का प्रयत्न करना एवं इसे मित्रता और सहयोग में बदलना चाहिए था। लेकिन फिर, घटना के बाद हम सभी विवेकवान हैं। वे कारण जिसने कांग्रेस के हिंदू सदस्यों की इस तरह सोच की प्रवृत्ति को प्रभावित किया, पहले के अध्याय में बताए गए हैं।"...

मैंने जब रिपोर्ट की अंतिम प्रति प्राप्त की, मैंने इस असामान्य प्रक्रिया के खिलाफ प्रतिरोध किया तथा यह कहने को मजबूर हूं कि मेरे अनुरोध के बावजूद न तो संतोषजनक कारण बताए गए, न हटाए गए अंश वापस जोड़े गए। और यह अपने आप बोलती है।

पहले अध्याय में प्रस्तुत कानपुर के हिंदू-मुस्लिम संबंधों का सर्वेक्षण अपूर्ण होता, अगर दबाए गए अंशों को यहां प्रस्तुत नहीं किया जाता इसलिए मैंने अपने कमजोर कंधों पर यह उत्तरदायित्व लिया है।

दंगों की भयानक घटनाओं के साथ-साथ क्षतियों के विवरण पर किसी टिप्पणी की जरूरत नहीं है, सिवाय इसके कि कई अवसरों पर अगर ब्रश दूसरे हाथों में होते तो रंग की गहराई बदल जाती। लेकिन संपूर्ण रूप में यह लगभग सही तसवीर प्रस्तुत करती है।

व्यावहारिक नजरिये से रिपोर्ट का संभवतः सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा वह है जो सुधार के उपाय सुझाता है और इसका भारत में हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़ना तय है। इस बारे में मैं कुछ विस्तारपूर्वक कहना चाहता हूं।

हालांकि मैं अपने सहयोगियों से उनके द्वारा सुझाए गए कई अच्छे उपायों पर सहमत हूं, मैं कम-से-कम, आरंभिक टिप्पणी को अपना पूरा समर्थन देने में सक्षम नहीं हूं क्योंकि यह हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के मिश्रण के विचार की बात करता है।

निस्संदेह, अंग्रेजी साहित्य ने हिंदू और मुस्लिम—दोनों बुद्धिजीवी वर्ग को काफी प्रभावित किया है लेकिन यह अब भी संदेहपूर्ण है कि विचार की दो शाखाओं में से किसे अंग्रेजी लेखकों और पश्चिमी विचार ने अधिक प्रभावित किया है—उसे जो दो संस्कृतियों के मिश्रण की वकालत करता है या दूसरे को जो हर संस्कृति की विशिष्ट प्रकृति को बनाए रखने का तर्क देता है।

क्योंकि मुसलमानों के लिए बहुत कम संदेह है कि दूसरे देशों और समुदायों

से अपनी प्रकृति विशिष्ट ढंग से अलग बनाए रखने का विचार उतना ही पुराना है जितना इस्लाम है क्योंकि पवित्र मुहम्मद (उन्हें शांति मिले) ने यह कहते हुए मुसलमानों को इस तरह के सभी मिश्रण से दूर रखने का साफ तौर पर निर्देश दिया है :

من تشبه بقوم فهو منهم

(अनुवादः वह जो लोगों की नकल करता है, उनमें से एक है)

विश्वसनीय इतिहासकारों से अनगिनत उदाहरण पेश किए जा सकते हैं कि अंग्रेजों के शक्तिशाली राष्ट्र होने और मुसलमानों के बीच अंग्रेजी साहित्य के विस्तार से काफी पहले ही इस्लामी विचार के अगुआ, अध्यात्मवादी, सूफी, दार्शनिक और कवि उन लोगों के सामने मुहम्मद (उन्हें शांति मिले), खलाफाई रशीदीन (अब बकर, उमर, उस्मान मुहम्मद अली) और मुहम्मद के अन्य सहयोगियों (सहाबा) के जीवन के आदर्शों को उन लोगों के सामने रखने और जीवन के उनके तरीकों पर यथाशक्ति अनुसरण पर जोर दे रहे थे।

वैसे, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि लोग आमतौर पर या तो अपने अज्ञान और कमजोरियों या यहां तक कि विश्वास की कमी के कारण इनके अनुसरण में सक्षम नहीं रहे लेकिन कुछेक मुक्त चिंतक वर्ग को छोड़कर इस्लामी जगत के महान लेखकों और चिंतकों ने इस विचार के समान आदर्श को बराबर बनाए रखा है और इस विचार के उल्लंघन के सभी प्रयासों की कड़ी आलोचना और निंदा की है।

अकबर जिसकी अंग्रेज और हिंदू लेखकों द्वारा समान रूप से और यहां तक कि आधुनिक विश्वविद्यालयों के मुस्लिम ग्रेजुएटों द्वारा भी इतनी प्रशंसा की जाती है, कि उच्चतर राजनीतिक प्रतिभा या उसके अतुलनीय प्रशासन की हम चाहे जो प्रशंसा करें, उसके अपने समय में धार्मिक संस्थानों ने उसका तिरस्कार से वर्णन किया है और सच्चाई यही है कि औरंगजेब को आमतौर पर महानतम मुसलमान राजाओं में से एक ही नहीं बल्कि लगभग एक संत माना जाना साफ तौर पर बताता है कि हवा किस तरफ बह रही है।

इसे आगे बढ़ाए जाने की जरूरत नहीं है; लेकिन चूंकि मैं अपने जीवन के आखिरी कतरे में कुरआन के निश्चित और पवित्र मुहम्मद (उन्हें शांति मिले) तथा उनके सहयोगियों, खास तौर से खलाफाई रशीदीन के अनुसरण में धर्मनिष्ठा और इस तरह दूसरे देशों—चाहे वह एशियाई या यूरोपीय, अफ्रीकी या अमेरिकी हो, की संस्कृतियों तथा सभ्यताओं की मिलावट और मिश्रण से इस्लामी संस्कृति

तथा सभ्यता को मुक्त रखने पर यकीन करता हूं, मैं समिति की निम्नलिखित सिफारिशों से सहमत नहीं हो सकता :

I. सामाजिक समूह की उपधारा (2) के अंतर्गत सलाह दी गई है कि–

"होली, दीवाली, ईदुल फितर और शब-ए-बरात को दोनों समुदायों के आम उत्सवों के रूप में माना जाना चाहिए और नए आम राष्ट्रीय पर्वों की शुरुआत की जानी चाहिए।"

"धार्मिक मामलों (यहां उर्दू में है) में नवीन पद्धति की मनाही की गई है, सिफारिश के पहले हिस्से को स्वीकार करना पूरी तरह असंभव है लेकिन बाद के हिस्से को स्वीकार किया जा सकता है, अगर किसी नए स्थापित उत्सव में प्रक्रिया इस तरह अपनाई जाए कि उसे सामाजिक कार्यक्रम बनाया जाए और ऐसा कुछ नहीं किया जाता है कि मुसलमानों को उनके धार्मिक मामलों के मद्देनजर स्वीकार्य नहीं हो सकते क्योंकि जिस तरह हिंदू पर्व आमतौर पर मनाए जाते हैं, उसका मुसलमान अनुसरण नहीं कर सकते।

यह बात ठीक है कि भारत और अन्य इस्लामी देशों में भी जीवन के वर्तमान तरीके इस्लाम की सभी शिक्षाओं के अनुरूप नहीं होते जिस तरह कि दूसरे और पुराने धर्मों के अनुयायी अपने धर्मों के आदेश को आमतौर पर पूरी तरह मानते हैं और इसके पर्याप्त कारण हैं जिस पर यहां विचार करने की जरूरत नहीं है। लेकिन यह तथ्य कि मेरे सहधर्मी पूरी तरह व्यवहार नहीं करते, मुझे किसी गलत सलाह पर सहमत नहीं कर सकते।

II. मैं किसी अन्य धर्म की शिक्षा के बारे में अधिकार के साथ नहीं कह सकता लेकिन मैं यकीन करता हूं कि इस्लाम की बातें इतनी विस्तृत हैं कि हमारे दैनिक जीवन के लगभग छोटे-से-छोटे विवरण हमारे धर्म के नियम के दायरे में आते हैं। उपधारा (4) में कही गई वेशभूषा और रूप की बातों का किसी धर्म के साथ आमतौर पर कोई लेना-देना नहीं लगता, कम-से-कम शहरी लोग ऐसा सोचने लगते हैं लेकिन एक मुसलमान इस तरह की वेशभूषा धारण नहीं कर सकता या उसे करना भी नहीं चाहिए जो उसकी धार्मिक रीतियों (मसलन, नमाज) को पूरा करने में अटकाता हो और उसका रूप भी इस्लाम द्वारा बताए गए तरीके के अनुरूप होना चाहिए। इस तरह विशिष्टता–चाहे वह हठी हो या नहीं–को बमुश्किल छोड़ा जा सकता है–बल्कि यह कर्तव्य-विचारक है।

III. सामाजिक समूह की उपधारा (5) पर्दा हटाने की सिफारिश करती है। मैं जानता हूं कि यहां प्रचलित पर्दा-प्रथा में कुछ परिवर्तन की जरूरत है लेकिन मैं वैसे किसी बदलाव को स्वीकार करने का इच्छुक हूं जो उससे बाहर नहीं हो जिसकी हमारे धर्म में अनुमति दी गई है, लेकिन पर्दा को पूरी तरह हटाने का अर्थ धर्म में हस्तक्षेप होगा जिसे मुसलमानों द्वारा बर्दाश्त नहीं किया जा सकता

और उन्हें करना भी नहीं चाहिए। वस्तुतः, यह पूरी तरह घरेलू मामला है और इसे मुसलमानों पर छोड़ देना चाहिए जो इसका अपने धार्मिक और सामाजिक आदर्शों के अनुसार समाधान कर सकते हैं।

IV. मैं सामाजिक समूह की उपधारा (8) के साथ आमतौर पर सहमत हूं लेकिन मुझे साफ तौर पर कहना चाहिए कि किसी के घर में किसी पशु को मारने के अधिकार के साथ हस्तक्षेप–चाहे वह कानून या सरकारी आदेशों के जरिये मुसलमानों और अन्य वर्गों के लोगों की पीड़ा के न्यायपूर्ण कारण का स्रोत बना रहेगा और मुझे उम्मीद है कि इस खंड की वाक्य रचना, खासतौर पर "देश के आम कानूनों के तहत होनी चाहिए" वाली बात को किसी के धर्म के मुक्त व्यवहार के अधिकार या नागरिकता की स्वतंत्रता के उल्लंघन करने वाले कानूनों को लागू करने या लादने का बहाना नहीं बनाया जाएगा। अपना धार्मिक दायित्व पूरा करते हुए एक मुसलमान को स्वतंत्र रूप से और बिना हिचक या रुकावट यह देखने की हर सावधानी बरतनी चाहिए कि वह अपने पड़ोसियों को उत्तेजना का कोई अवसर नहीं देता है।

V. सामाजिक-शैक्षिक समूह के अंतर्गत की गई सिफारिशों पर आमतौर पर सहमति है लेकिन निम्नलिखित बिंदुओं पर मैं कुछ शब्द कहना चाहता हूं :

(क) उपधारा (2) की प्रस्तावना में दिए बयान की विशिष्ट जाति-धर्म के बिना नाम वाली संस्थाओं के हिंदू और मुस्लिम विद्यार्थी वृहत्तर दृष्टि रखते हैं, मुझे सही स्थिति का प्रतिनिधित्व करता नहीं लगता है। इस संबंध में नामों का उल्लेख अनुपयोगी होगा लेकिन मैं प्रतिवाद के भय के बिना कह सकता हूं कि प्रमुख मुस्लिम राष्ट्रवादियों में से अधिकांश मुस्लिम विश्वविद्यालय (पूर्ववर्ती एम.ए.ओ. कालेज, अलीगढ़) से निकले हैं या इसके साथ इनकी पहचान रही है जबकि हिंदू संगठन के प्रमुख नेताओं की बड़ी संख्या बिना विशिष्ट जाति-धर्म के नाम वाली संस्थाओं के पूर्व विद्यार्थी हैं। दरअसल, इस क्रम में की गई सिफारिशें मुख्य तौर पर धार्मिक शिक्षा देने वाली संस्थाओं को समाहित नहीं करती हैं।

(ख) उपधारा (7) के अंतर्गत की गई सिफारिश जो 18 वर्ष से कम के नाबालिग के धर्म परिवर्तन का निषेध करती है, इस्लामी कानून के विरुद्ध है और इसलिए मुसलमानों द्वारा स्वीकार नहीं की जा सकती। मुस्लिम अध्यात्मवादियों के अनुसार, उन नाबालिगों को भी धर्म परिवर्तन का अधिकार है जिनकी समझ की शक्तियां पर्याप्त रूप से विकसित हो गई हैं और नाबालिग होने की उम्र 15 से अधिक नहीं होती है हालांकि कई लोग, खास तौर पर महिलाएं इससे पहले ही रजस्वला की उम्र में पहुंच जाती हैं।

मैं इस बात से भी सहमत नहीं हो सकता कि पिछले 10 वर्षों के दौरान

धर्म परिवर्तन के उचित मामले नहीं हैं या धर्म परिवर्तन के लक्ष्य वाले प्रत्येक और हर संगठन की गतिविधियां इस तरह की थीं कि उन सबको रोक देना चाहिए। समिति से सिर्फ यह अपेक्षा है कि धर्म परिवर्तन के मामलों में गलत तरीकों की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए और उन संगठनों पर निश्चित रोक लगानी चाहिए जो इस सिद्धांत पर नहीं ठहरते हैं।

VI. राजनीतिक-आर्थिक समूह की उपधारा (4) के अंतर्गत मैं इस सुझाव से सहमति का अपना मार्ग नहीं देखता हूं कि धार्मिक आधार पर अलग मतदाता समूहों को समाप्त कर दिया जाए। मुस्लिम नेशनलिस्ट्स पार्टी के मेरे दोस्त चाहे जो सोचें, मुझे यकीन है कि सभी परिस्थितियों पर विचार करने पर अलग मतदाता समूहों को हटाना अल्पसंख्यकों पर प्रतिकूल असर डालेगा और जब तक उच्च जाति हिंदुओं, जिनका इस वक्त लगभग सभी महत्वपूर्ण चीजों में एकाधिकार है, का आम व्यवहार तत्व रूप से परिवर्तित नहीं होता और वे लाखों दुखी लोगों, गलत ढंग से अछूत कहे जाने वालों, के जीवन के सभी क्षेत्र में पूर्ण न्याय करने के इच्छुक नहीं होते हैं और उनका हिस्सा नहीं देते हैं, मिश्रित मतदाता समूह अल्पसंख्यकों पर नहीं थोपा जाना चाहिए। क्या महात्मा गांधी ने स्वयं ही नहीं कहा है कि "अछूत अब से भी बहुत बदतर स्थिति में उस स्वराज में रहेंगे, सिर्फ इस साधारण कारण से कि हमारी कमजोरी और हमारी विफलताएं तब सत्ता की बलजोरी द्वारा आश्रय पा लेगी?"

इसलिए मेरा अपना सुझाव होगा कि किसी खास प्रांत में बहुसंख्यक वाले समुदाय को मिश्रित मतदाता समूह के जरिये अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने दिया जाए ताकि अल्पसंख्यकों के अधिकार पूरी तरह वंचित नहीं हो सकें जबकि अल्पसंख्यक समुदाय को अपने प्रतिनिधि अलग मतदाता समूह से या यदि वे चुनें तो मिश्रित मतदाता समूह से अपने प्रतिनिधि चुनने की अनुमति दे दी जाए।

संविधान निर्माण में यह अयोग्यता लग सकती है लेकिन मुझे यकीन है कि यह लाभकारी सिद्ध होगा और अल्पसंख्यकों को पर्याप्त सुरक्षा देगा। इस देश की स्थितियां यूरोप से इतनी अलग हैं कि अपने लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए हमें अपने काम के कार्यक्रम या यहां तक कि प्रशासन के संविधान में भी बदलाव लाने पड़ेंगे। हमें हर विवरण में पश्चिम की नकल करने की जरूरत नहीं है।

मैं इस विचार से कभी भी सहमत नहीं रहा कि अलग मतदाता समूह हिंदू-मुस्लिम मतभेद का स्रोत है या रहा है। जैसा कि माना जाता है, इसका विचार भले ही अधिकारियों से निकला हो लेकिन कई अन्य चीजें हैं जो उनके द्वारा लागू की गई हैं और इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उन लोगों ने हमारे लिए कुछ बढ़िया किया है। इस तरह के बहुत सारे मतभेदों के लिए तब अलग मतदाता

समूह को ही अलग से क्यों दोषी माना जाए? "कुत्ते को बुरा नाम दे दो और तब उसे निकाल बाहर करो" एक पुरानी अंग्रेजी कहावत है और मेरी समझ से इस मामले में बिल्कुल सही उपयोगी है।

अगर दुर्घटनावश मुसलमानों की स्थिति पलट जाए और वे इस समय बहुसंख्यक समुदाय द्वारा लिखित हासिल सुरक्षा की स्थिति वाले शक्तिशाली बहुसंख्यक बन जाएं तो यह बहुत संदिग्ध है कि उस वक्त के अल्पसंख्यक द्वारा मिश्रित मतदाता समूह की दृढ़ता से वकालत की जाएगी।

VII. उपधारा (10) के अंतर्गत यह सलाह दी गई है कि बैंकिंग और बीमा आदि दो समुदायों के संयुक्त प्रयासों से संगठित किए जाने चाहिए। किसी भी तरीके या रूप में धन पर सूद की इस्लाम में मनाही होने के कारण मैं अपने सहधर्मियों को बैंकिंग या बीमा व्यापार में शामिल होने को नहीं कह सकता। इसके विपरीत, इस तरह के सभी अनैतिक उपक्रमों से उन्हें दूर रहने की सलाह देना मैं अपना दायित्व समझता हूं, मैं एक कदम और आगे जाना चाहूंगा और अपने हिंदू भाइयों से भी इस तरह के कारोबार से दूर रहने का अनुरोध करूंगा जो न सिर्फ नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में रुकावट है बल्कि पूंजीवाद के पोषण को बढ़ावा देता है जो मानवीयता की अनगिनत क्षति का स्रोत है। मैं यह भी समझता हूं कि इस अनैतिक व्यापार में लगे लोग अपने भविष्य की पीढ़ियों की स्थिति की बेहतरी के सभी अवसरों को बर्बाद करते हैं और उनके परिवार बहुत कम समय के भीतर इस पृथ्वी से धुल जाएंगे और इस तरह हमारे समाज के अस्तित्व पर ही विनाश का खतरा है। वही बढ़ता है जो अच्छा और पुण्यात्मा है और उन लोगों के लिए एक उन्नतिशील संतान छोड़े।

सुधार के उपायों के अध्याय पर अपने विचार प्रस्तुत करने के बाद मैं कुछ और सलाहों को जोड़ना चाहता हूं। कपड़े और रूप में एकरूपता, शैक्षिक संस्थानों और एक साथ भोजन या मित्रता, पर्वों में शामिल होने या क्लबों और समाजों में एकत्र होने से निश्चिततः सामाजिक संबंधों को बढ़ाने में कुछ हद तक मदद मिलेगी; लेकिन मुझे यकीन है कि हिंदू-मुस्लिम एकता की पूरी समस्या की अपक्षपाती जांच सभी विचारशील लोगों को संतुष्ट करेगी कि वास्तविक एकता सिर्फ हृदय परिवर्तन से हासिल की जा सकती है जो विश्वास और भलमनसाहत, सहानुभूति और भरोसे के वातावरण की स्थापना निश्चित करेगी। और चूंकि भरोसा दुष्कर्म को भी निःशस्त्र कर देता है, इस तरह के वातावरण की रचना सिर्फ बाहरी और ऊपरी उपायों से नहीं की जा सकती। इसके लिए आंतरिक शुद्धीकरण की लंबी और परिश्रांत प्रक्रिया की जरूरत होगी। शत्रुता की उत्तेजनाओं और एक-दूसरे पर बढ़त हासिल करने की इच्छा को दबाना होगा और लोगों के दिमाग में मानवीय भाईचारे और प्रेम की भावनाओं को बड़े पैमाने पर बैठाना होगा।

भारत में शताब्दियों के मुस्लिम शासन के दौरान हासिल अनुभव साफ तौर पर दिखाता है कि प्राकृतिक कारणों ने दो समुदायों के बीच सम्मिलन बिना कोई कोलाहल या इसकी गति को चलाने वाले किन्हीं प्राकृतिक तरीकों को स्वीकार किए किया।

मेरे खयाल से, हमारे सभी रोगों के लिए प्रेम सर्वोत्तम उपचार है और अगर हम दो समुदायों के नेताओं और अनुयायियों के बीच किसी तरह इसे बूंद-बूंद कर टपका सकें, हमारा लक्ष्य तब प्राप्त हो जाएगा। यह काम कैसे हो सकता है, यह जरूर गंभीर सवाल है।

सन् 1914-18 का भयानक विश्व युद्ध लड़ने वाले यूरोप के बड़े देशों में से अधिकांश के लगभग आम रूप, वेशभूषा, तौर-तरीके और रीतियां एक समान थीं, फिर भी सब जानते हैं कि किस निर्दयता से एक देश ने दूसरे का गला काटा और जर्जर तथा विलोप करने के अपने अमानवीय प्रयास में हर दूसरे से स्पर्धा की। जो यूरोप में हुआ, भारत में दुहराए जाने की संभावना है, तब भी अपने दिलों में किसी तरह का परिवर्तन किए बिना हम समिति के सांस्कृतिक मिश्रण के विचार पर आधारित विभिन्न सुझावों पर काम करने को सहमत हैं।

वैसे, वास्तविक तथा स्थायी एकता हासिल करने और हिंदुओं एवं मुसलमानों के बीच बंधुत्व बनाए रखने के लिए, मेरे विनम्र विचार में नीचे सुझाए गए तरीकों से अपने व्यवहार में मौलिक परिवर्तन लाने होंगे :

(1) हिंदुओं को, जो बहुसंख्यक समुदाय बनाते हैं और मुसलमानों से धन, आधुनिक शिक्षा, संगठन और प्रचार में काफी आगे हैं, देश के संविधान में उचित स्थान पाने के लिए अपेक्षित गारंटी और सुविधाएं बिना हिचकिचाहट देकर मुस्लिमों के दिल जीतने की कोशिश करनी चाहिए।

(2) हममें से अधिकांश लोग आधुनिक सभ्यता की निंदा कर प्रसन्न होते हैं लेकिन इसके बावजूद सत्य यह है कि जीवन के हर क्षेत्र में हम यूरोप की नकल करने का हरसंभव प्रयास कर रहे हैं। हिंदू और मुसलमान—दोनों ही अपने-अपने धर्मों के प्रति महज जुबानी श्रद्धा अर्पित करने और अपनी पुरानी संस्कृतियों की महानता एवं खूबसूरतियों पर महज आत्मश्लाघा करते हैं। और कोई इस बात को समझता नहीं लगता है कि हमारे दैनिक जीवन के तरीके रोज-ब-रोज इस तरह बदलते जा रहे हैं कि हम उस चीज से लगातार दूर ही रहते हैं जिसे हम अपने पुरखों का स्वर्ण युग कहते हैं।

यह प्रहसन समाप्त कर दिया जाना चाहिए और अगर हम वस्तुतः सच्चे और ईमानदार तथा लंबे समय तक शांति और एकता में रहना चाहते हैं तो हमें पश्चिमी आदर्शों और आदतों के लिए सभी उत्कंठाओं को त्याग देना चाहिए तथा वेदों और कुरआन के पुराने दिनों में लौटना चाहिए।

(3) एक परम ईश्वर का विचार न सिर्फ मुसलमानों बल्कि कुछ हिंदू मतों का भी केंद्रीय विश्वास है जैसा कि सुधारों के अध्याय में उल्लेख किया गया है। अगर सभी हिंदू मतों में इस विचार को बढ़ाने और शिक्षा देने के लगातार तथा तत्पर प्रयास किए जाएं तो धार्मिक विचार में एकता का कुछ स्तर हासिल किया जा सकता है जो बदले में वेदांती और मूर्तिपूजक—दोनों के मन-मिजाज से मानहानि और ईर्ष्या की भावना हटाएगी।

(4) हालांकि सत्ता और धन के लिए मानव लालसा को जड़ से हटाना संभव नहीं है जो सभी समस्याओं और कलह का मुख्य स्रोत है, फिर भी इसे बहुत हद तक दबाना या सीमित करना असंभव नहीं है। इसे सिर्फ आध्यात्मिकता से हासिल किया जा सकता है जो धर्मसेवा और जीवन की शुद्धता का दूसरा नाम है। इस बहुइच्छित पूर्णता की प्राप्ति के लिए अपनी युवा पीढ़ी और विचारवान लोगों के मन बदलने के लिए वास्तविक तथा ईमानदार प्रयास करने होंगे।

जब कमजोर के पास बलशाली से डरने का कोई कारण नहीं होता, इच्छा आमतौर पर दब जाती है और लोगों ने ईश्वर से डरने वाला और शुद्धतर जीवन जीना सीख लिया है, हिंदू और मुसलमान आसानी से मित्र बन जाएंगे और एक ही माता-पिता के बेटों की तरह एक-दूसरे के साथ प्रेम करना सीख जाएंगे।

तुम कबीर पर, सूफियों और संतों पर तथा सिद्धपुरुषों पर श्रद्धा जताते हो लेकिन जैसे ही इन पर अमल और उनके बताए रास्तों के अनुसरण का अवसर आता है, तुम अपना चेहरा बदल लेते हो। यह देशों के बीच एकता लाने का तरीका नहीं है। इसके विपरीत यह उन्हें और विभाजित करेगी तथा इस हद तक कलह बढ़ाएगी जिसे अभी ठीक-ठीक नहीं नापा जा सकता लेकिन यह उसी तरह उन्हें जर्जर जरूर करेगी जिस तरह यूरोपीय देश अपनी ही रचना—पश्चिमी सभ्यता के भार से तहस-नहस हो रहे हैं।

इस विषय पर मौलाना मुहम्मद अली ने किस तरह बढ़िया प्रकाश डाला है और संस्कृति निर्माण में नए प्रयोगों के प्रति चेतावनी[95] दी है :

"धार्मिक सुधारकों ने कई भिन्न स्रोतों से जमा किए गए कई नमूनों से बनाए गए धार्मिक मिश्रण की रचना या इसकी तैयारी के लिए घातक कमजोरी को सब दिन छोड़ दिया है। उन्हें आशा रही है कि समाहित करने की योजना अंगीकार कर वे लोग विभिन्न मतों से एकत्र किए हुए मतों को अंगीकार करने वाले और इन सभी मतों के सभी अनुयायियों के लिए स्वीकार्य मत में सक्षम होंगे, इस तरह वे एकरूपता हासिल करने तथा समानता निश्चित करने की उम्मीद करते हैं। लेकिन इतिहास ने दिखाया है कि इस तरह से सब पदार्थों के सर्वोत्तम

95. कोकोनाडा कांग्रेस का अध्यक्षीय भाषण, पृ. 74-75

भाग ग्रहण करने वाले मतों की रचना से शांति और एकता आगे नहीं बढ़ती है। उसने संघर्षरत धर्मों में एक की बढ़ोतरी ही की है और सिर्फ उस फूट को बढ़ाया है जिसे वे जन्म दे रहे हैं। इस तरह की सोची-समझी विफलताओं ने लोगों को अंततः धार्मिक विषयों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की ओर लौटाया ही है।"

जफरुल-मुल्क

परिशिष्ट

प्रश्नावली

1. इस शहर में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संबंधों में खिंचाव होना कब शुरू हुआ?
2. सांप्रदायिक तनाव खास तौर से कब-से बढ़ रहा है? इसके पीछे क्या कारण रहे हैं? इसने कौन-से विशेष रूप लिए हैं?
3. दोनों में से किस समुदाय द्वारा कब और क्या नए सांप्रदायिक संगठन आरंभ किए गए? इस तरह के संगठनों ने दो समुदायों के बीच संबंधों पर क्या प्रभाव डाले? इस तरह की कोशिशें पैदा करने के लिए उन लोगों ने क्या कदम उठाए?
4. क्या कोई सांप्रदायिक नेता–चाहे वह स्थानीय हो या बाहरी–यहां काम कर रहे हैं और दोनों समुदायों के संबंधों पर अनपेक्षित असर पैदा करने के लिए कौन-से कदम, अगर कोई हो, उठाए हैं?
5. इस तरह की गतिविधियों की ओर सरकारी अधिकारियों का क्या रुख था?
6. सांप्रदायिक भावना को बढ़ाने में अन्य कारणों ने क्या भूमिका निभाई?
7. हाल के दंगों की शुरुआत का तात्कालिक कारण या अवसर क्या था?
8. 24 मार्च, 1931 को दंगों की शुरुआत से पहले क्या सरकारी अधिकारियों ने कुछ ऐसा किया जिसने सांप्रदायिक भावना बढ़ाने का काम किया?
9. जब तनाव शुरू हुआ, उसके बाद सरकारी अधिकारियों ने उसे समाप्त करने के लिए क्या कदम, अगर कोई हो तो, उठाए?
10. गड़बड़ियां शुरू होने के बाद शांति कायम करने के लिए सरकारी अधिकारियों ने क्या प्रयास किए और शांति की पुनर्स्थापना कब हुई?
11. दंगों के दिनों के दौरान जिला अधिकारियों, पुलिस और सेना का रवैया क्या था?

12. क्या यह तथ्य है कि स्थानीय अधिकारियों ने यह कहते हुए उत्तरदायित्वपूर्ण हिंदुओं और मुसलमानों को समय पर मदद से मना कर दिया कि "कांग्रेस से मदद लो" और "महात्मा गांधी को बुलाओ" या इस तरह की अन्य बातें? इस तरह की टिप्पणी से आप सरकार के रवैये के बारे में क्या निष्कर्ष निकालते हैं?
13. दंगे के दिनों के दौरान शहर के हिंदू और मुस्लिम नेताओं तथा स्थानीय सांप्रदायिक संगठनों ने कौन-सा रवैया अपनाया था? शांति की वापसी के लिए उन लोगों ने क्या कदम उठाए थे?
14. क्या स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ताओं या कांग्रेस के नाम पर किसी ने भी दंगों से पहले ऐसा कुछ किया जिसे दंगे का कारण माना जा सकता है? दंगों के दौरान कांग्रेस कार्यकर्ताओं का क्या रवैया था?
15. दंगे के वास्तविक तौर पर भड़कने से पहले शहर में गड़बड़ी का कोई भय महसूस किया जा रहा था? उसे शांत करने के लिए कोई कदम उठाया गया और किसने उठाया?
16. इन दंगों की जड़ में क्या कोई आर्थिक सवाल था? अगर था, तो क्या?
17. इन दंगों में क्या कोई आम राजनीतिक सवाल शामिल था? अगर था, तो क्या? इन दंगों के साथ कोई अन्य स्थानीय समस्या संबद्ध थी?
18. क्या इन दंगों की जड़ में कोई बिल्कुल धार्मिक झगड़ा था?
19. कुल मिलाकर अंदाजन कितनी जानें गईं? कितने लोग घायल हुए? कितने मूल्य की संपत्ति लूट ली या क्षतिग्रस्त कर दी गई? कितनी औरतें और बच्चे मार डाले गए या गायब हैं? औरतों और बच्चों पर आक्रमण के क्या कारण थे?
20. आप कितनी घटनाएं जानते हैं जिनमें हिंदुओं ने मुसलमानों की मदद की या उनकी रक्षा की या मुसलमानों ने हिंदुओं की मदद की या रक्षा की?
21. क्या इन गड़बड़ियों में भाग लेने वाले वर्ग के लोगों और गड़बड़ियों को अंजाम देने के तरीके से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके लिए कोई पूर्व तैयारी की गई थी? क्या हम इन गड़बड़ियों में कोई पूर्व विचारित या पूर्व संगठित संकेत पाते हैं?
22. भविष्य में इस तरह के दंगे रोकने के लिए कौन-से (1) अस्थायी और तात्कालिक किस्म के और (2) स्थायी प्रकृति के कदम उठाए जा सकते हैं?
23. क्या स्थानीय शैक्षिक संस्थाओं के विद्यार्थियों या शिक्षकों ने हाल के दंगों

में भाग लिया या उन्हें शांत करने का प्रयत्न किया?

24. क्या आप अध्ययन के दौरान बढ़ रही पीढ़ी के दिलों में सांप्रदायिक मतभेदों और पूर्वाग्रहों को मुक्त करने वाले तथा एकता एवं भाईचारा की भावनाएं बढ़ाने वाले शैक्षिक उपायों को करने को उचित या आवश्यक मानते हैं?

सुंदरलाल
सदस्य और सचिव
कांग्रेस जांच समिति

कानपुर
9 अप्रैल, 1931

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित

सन् 1933 में कानपुर दंगा जांच समिति की रिपोर्ट के प्रकाशन पर तत्कालीन ब्रितानी सरकार ने रोक लगा दी थी। सन् 1931 में भयंकर सांप्रदायिक दंगा भड़क उठा था। दंगे के कारणों की जांच के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने छह सदस्यों का जांच दल नियुक्त किया था। इस दल की रिपोर्ट में आधुनिक भारत में हिंदू-मुस्लिम रिश्तों में आई कड़वाहट और इसके निदान के उपाय सुझाए गए थे। इस समिति के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती आम लोगों में व्याप्त इस बात को तथ्यहीन सिद्ध करना था कि हिंदुओं और मुसलमानों के आपसी रिश्ते स्वाभाविक और ऐतिहासिक रूप से कटु रहे हैं। व्यापक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस रिपोर्ट में बताया गया है कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक विविधताओं के बावजूद सदियों से ये दोनों समाज दुर्लभ सांस्कृतिक संयोग प्रस्तुत करते रहे हैं। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि औपनिवेशिक शासकों और प्रशासकों ने किस तरह इस तथ्य को विकृत रूप में प्रस्तुत किया। इस रिपोर्ट का यह संक्षिप्त संस्करण, जो कि आज भी प्रासंगिक है, सात दशकों बाद पहली बार आम पाठकों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस रिपोर्ट के अनुवादक **दिवाकर** वरिष्ठ पत्रकार हैं।

रु. 60.00 **ISBN 81-237-4703-9**

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया